संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय

किशोरीदास वाजपेयी

हिमालय एजेंसी, कनखल उ० प्र०

(१)

चञ्चुप्रवेशो यद्यत्र द्विजस्योत्पततः क्वचित्,
तदाऽम्लत्वं कषायत्वं दूरापास्तं हि ज्ञायताम्।

(२)

नहि किञ्चिन्निगूढं हि तत्त्वं नामेह संस्कृतौ,
परं धूमायितः कैश्चिद् विषयः प्रकृतिं गतः।

(३)

निबन्धो लघुकायोऽयं महतोऽपि विनेष्यति,
महामूल्यान्महाकायान् गजेन्द्रानङ्कुशो यथा।

लेखक का निवेदन

भयंकर नर-संहार के बाद और राष्ट्र के दो टुकड़े हो जाने के बाद जब अपने हिस्से के भूभाग पर अपना राज हुआ, तो मन में आया कि अब स्वसंस्कृति की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। एक राष्ट्र की एक जाति होती है और उसकी 'अपनी' एक संस्कृति होती है। संस्कृति की एकता ही जाति का निर्माण है। इंग्लैंड एक देश, या राष्ट्र है। उस राष्ट्र की जाति को 'इंग्लिश' कहते हैं। 'इंग्लिश कल्चर' कहने से समझा जाता है–इंग्लिश जाति का (इंग्लिश नेशन का) रहन-सहन रीति-रिवाज, वेश-भूषा, खान-पान का ढंग आदि। इसी को हम 'अंग्रेज-संस्कृति' कहते हैं। इस संस्कृति से किसी खास मत-सम्प्रदाय का, या किसी खास दल का कोई खास सम्बन्ध नहीं है। सभी मत-मजहब और सभी दलों की संस्कृति एक है। वह संस्कृति धारा-प्रवाह से चली आ रही है। उसमें तब से अब तक बहुत परिर्तन हुए हैं। परन्तु वह पहले भी एक थी और अब भी एक है। इसी तरह जापान एक देश या राष्ट्र, वहां बसने वाली जाति (नेशन) 'जापानी' और जापानी संस्कृति का 'अपना' एक रूप। जापान के बौद्ध, ईसाई या किसी भी सम्प्रदाय के लोग इस सांस्कृतिक एकता के कारण भिन्न नहीं जान पड़ते। 'सूत्रे मणिगणा इव' इस संस्कृति से सब संबद्ध हैं। यही स्थिति चीन आदि की है। वहां के बौद्ध (बुद्ध की जन्मभूमि) भारत की भाषा (प्राचीन पाली-प्राकृत, संस्कृत आदि) पढ़ते हैं, यदि जिज्ञासा में आगे बढ़े, तो। नहीं तो, अपनी चीनी भाषा में ही बुद्ध-शिक्षा

पढ़ते-सुनते हैं। जो लोग पाली-संस्कृत पढ़ भी लेते हैं, वे भी अपने बच्चों के जीवन में उसे (संस्कृत या पालि को) नहीं उतारते। वे अपने बच्चों के नाम भी संस्कृत या पालि में रखें, यह बात नहीं है। नाम अपनी चीनी भाषा में। यही स्थिति वहां के मुसलमानों की है। आठ-दस करोड़ मुसलमान चीन में हैं; परन्तु कहीं किसी का नाम 'अब्दुल मजीज' या 'रफी अहमद' जैसा न मिलेगा। सब के नाम चीनी भाषा में हैं। रहन-सहन, वेश-विन्यास और खान-पान भी एक। यानी, वहां बौद्ध, कन्फयूशस, मुसलमान, या ईसाई आदि को आप पृथक् पहचान नहीं सकते, जब तक वह स्वयं अपना 'मत' प्रकट न करें। जैसे कि अपने यहां वैदिक सनातनी, आर्यसमाजी, शैव, वैष्णव आदि तथा अवैदिक जैन, बौद्ध आदि पहचान में नहीं आते। नाम-रूप से कोई भेद नहीं जान पड़ता। यह अभेद सांस्कृतिक है। संस्कृति ही 'एक राष्ट्र' बनाती है।

'मत' और संस्कृति में बड़ा अन्तर है। संस्कृति के समुद्र में न जाने कितने मत-मजहब लहरों के समान प्रकट होते रहते हैं और मिटते रहते हैं। 'मत' का संबन्ध तो 'मन' से है। हम अपने मन में समझते हैं कि ईश्वर है, तो हमारा 'मत' ईश्वरवादी। और हमारा मन ईश्वर की सत्ता नहीं मानता, तो हमारा 'मत' अनीश्वरवादी। यह 'मत' या मन की बात संस्कृति से भिन्न है। एक ही संस्कृति के ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी को आप पहचान कर अलग – अलग नहीं कर सकते, जब तक वह अपने मन की बात प्रकट न करे। परन्तु भिन्न संस्कृतियों के दो ईश्वरवादियों को आप झट पहचान कर अलग-अलग कर सकते हैं, यदि उनमें सांस्कृतिक एकता न आ पाई हो। यही कारण है कि इस देश के ईश्वर-

वादी हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग दिखाई देते हैं। 'मत' (ईश्वरवाद) तो मन की चीज है। नाम-रूप से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सो, सांस्कृतिक भेद से दोनों में भेद स्पष्ट है। एक जगह भारतीय संस्कृति है, दूसरी जगह अरबी-ईरानी संस्कृति। यह और बात है कि भारत की अपनी (भारतीय) संस्कृति में कुछ बातें, संसर्ग से, अरब-ईरान आदि की भी आ मिली हों और अरबी-ईरानी संस्कृति भी भारत में कुछ भारतीयता से प्रभावित हुई हो; परन्तु पृथक् दोनों चल रही हैं।

इस संस्कृति-पार्थक्य का कारण क्या है? इस पार्थक्य से क्या राष्ट्र का हित हुआ है? क्या यही स्थिति रहने से आगे हित-सम्भावना है? हम एक संस्कृति के क्यों नहीं हो जाते? यह भेद-भाव मिटा क्यों नहीं देते? हिन्दू और मुसलमान अलग क्यों दिखाई देते हैं? यह कैसे पहचान में आजाता है कि यह हिन्दू है और यह मुसलमान? यह भेद-भाव क्या राष्ट्र के लिए हितकर है?

स्वराज्य प्रतिष्ठित होने पर मेरे मन में यह सब आया। मैं ने सोचा, भारतीय संस्कृति की चर्चा चलाने के लिए एक अखिल भारतीय विद्वत्सम्मेलन बुलाया जाए। इस के लिए मैं ने 'काशी-नगरी प्रचारिणी सभा' से लिखा-पढ़ी की। 'सभा' का एक प्रचार-केन्द्र हरिद्वार (ज्वालापुर) में भी है—'सत्यज्ञान-निकेतन'। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपना यह आश्रम ('सत्यज्ञान-निकेतन') 'सभा' को समर्पित कर दिया है—सांस्कृतिक चेतना लाने के लिए, जिस में भाषा भी सम्मिलित है। मैं ने संस्कृति का जो स्वरूप समझा है, स्वामी सत्यदेव का मत उस से भिन्न है। वे संस्कृति का मतलब वही समझते हैं, जो

कि और सब लोग। स्वामी जी अपने इसी आश्रम ('सत्यज्ञान-निकेतन') में रहते हैं। मैं ने उन से पूछे बिना ही 'सभा' से बात-चीत की। 'सभा' ने मेरा प्रस्ताव मान लिया और दो सौ रुपए प्रारम्भिक खर्च के लिए, मैं ने जो मांगे थे, भेज दिए। मैं ने सामाचार-पत्रों में सूचना छपाई और विद्वानों के पास निमंत्रण भेजे। राजर्षि टंडन तथा डा० अमरनाथ झा आदि ने मुझे समर्थन दिया। काम आगे बढ़े कि इतने ही में सभा' से पत्र आया कि इस समय सांस्कृतिक-सम्मेलन करना ठीक नहीं है। सम्भव है, 'सभा' के संचालकों को 'मेरी' संस्कृति का पता चल गया हो और उन्हों ने इसे नापसन्द किया हो! यह भी सम्भव है कि स्वामी सत्यदेव ने कुछ लिखा हो। शायद और ही कुछ कारण हो; पर सभा ने अपना संरक्षण हटा लिया।

'सभा' के हट जाने पर भी मैं वैसा सम्मेलन करता; परन्तु इसी बीच महात्मा गांधी हमारे बीच से उठ गए! इस में एक 'व्यक्ति' अपराधी था, दो-चार उस के सहायक थे, जिन को बाद में अदालती सजा मिली। परन्तु उस समय नेहरू जी को इतना क्रोध आया कि विवेक खो बैठे। देश भर से बीसों हजार लोगों को पकड़वा कर जेलों में बन्द करा दिया—न कोई मुकदमा, न पैरवी! जिस में कुछ विशेष हिन्दूपन देखा, या जिसके विचार कांग्रेस से भिन्न देखे, पकड़ कर जेल में डाल दिया! स्थानीय कांग्रेस-जनों की सलाह से यह पकड़-धकड़ हुई थी। मुझे भी पकड़ लिया गया और सीधे जेल भेज दिया गया! मजा यह कि मैं ने सन् १६१६ से लेकर उस समय तक कांग्रेस के झंडे के नीचे राष्ट्रीय सेवा की थी, सभी आन्दोलनों में खुल कर और डट कर भाग लिया था और इस के

लिए मुझे सब तरह की सजाएँ मिली थीं! यह सब देखने-जानने वालों ने ही मुझे इस लिए जेल में डलवा दिया था कि मैंने उजड़े हुए पंजाबी भाईयों को बसाने में कुछ मदद की थी और इस में बाधा डालने वालों का मुकाबला किया था। यही मेरा अपराध था! न मैं कभी हिन्दूमहासभा का सदस्य हुआ था, न 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' से कोई सम्बन्ध था, न ऐसी संस्थाओं के किसी जलसे-जलूस में ही तब तक सम्मिलित हुआ था! खैर, जेल चला गया।

जेल में ही मैं ने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि प्रयाग-मेले में राजर्षि टंडन कोई सांस्कृतिक सम्मेलन कर रहे हैं। वह सम्मेलन वहां हुआ और उसका विवरण मैं ने पढ़ा। जान पड़ा कि संस्कृति के संबन्ध में राजर्षि टंडन का मत भी भिन्न है। महर्षि पं० मदनमोहन मालवीय जो कुछ सनातनधर्म-सम्मेलन में कहा-किया करते थे, प्रायः वही सब राजर्षि टंडन के सांस्कृतिक सम्मेलन में हुआ। इस सांस्कृतिक संस्था को राजर्षि ने स्थायी संगठन का रूप दिया; पर आगे कुछ खास काम हुआ नहीं। अधिवेशन होते रहते हैं!

वैसा संगठन बनाने की शक्ति मुझ में नहीं हैं; विचार भर दे सकता हूं। मैं ने सुना-'हिन्दुस्तानी बिरादरी' नाम की संस्था कुछ लोगों ने बनाई है। कुछ आशा बँधी कि इस संस्था के द्वारा शायद हिन्दू-मुसलमानों में सांस्कृतिक एकता लाने का उद्योग किया जाए! परन्तु बेकार! वे ही 'ढाक के तीन पात'! एक बिरादरी जिस दिन बन जाएगी, देश का सौभाग्य जाग उठेगा। परन्तु यहां तो उलटी दिशा लोग पकड़ते हैं। 'हिन्दुस्तानी बिरादरी' में भी वे दो तत्त्व स्पष्ट अलग दिखाई देते हैं!

इधर मेरे साहित्यक मित्रों ने भी सांस्कृतिक विचार-धारा

प्रकट की है। ऊँची-ऊँची परीक्षाओं में 'संस्कृति' भी एक विषय बन गया है। परन्तु गाड़ी वहीं है —ज़रा भी आगे नहीं बढ़ी! संस्कृति का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं हुआ! यहां तक लिख देते हैं कि 'संस्कृति की स्पष्ट परिभाषा करना सम्भव नहीं है।' हद हो गई! यदि ऐसा ही है, तो फिर ये पोथे क्यों रचे जा रहे हैं? संस्कृति की स्पष्ट परिभाषा इस ग्रन्थ में मिलेगी। इसी लिए यह उद्योग है। जो कुछ अन्य सांस्कृतिक ग्रन्थों में और महा-ग्रन्थों में लिखा गया है, उसका पिष्टपेषण यहां न होगा। लोगों ने इतिहास, मत-मज़हब और धर्म-सम्प्रदाय आदि के बयानों के जमघट को और उन के इतिहास कोसंस्कृति-ग्रन्थ समझ लिया है! यह गलत बात है।

भारतीय संस्कृति के चार युग बीत चुके, पाँचवाँ शुरू है। इन सांस्कृतिक युगों को हमारे मित्र श्री 'दिनकर' जी ने 'अध्याय' नाम दिया है। मैं ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। इस पुस्तक में इस वर्तमान (पांचवें) अध्याय के बारे में ही विशेष रूप से कहा जाएगा। चार पिछले अध्याय तो समाप्त हो कुके। उनमें जो गलती हुई है, उसे इस पाँचवें अध्याय में सुधार लेना चाहिए। इसी ओर इस पुस्तक का प्रयत्न है।

चार अध्याय

संस्कृति के पिछले चार अध्याय साफ हैं — पहला अध्याय, वैदिक और द्रविड़ मिलन; या आर्य-द्रविड़ संगम। दूसरा अध्याय—भारतीय संस्कृति में शक हूण आदि का मिलन। तीसरा अध्याय भारतीय संस्कृति से अरबी-ईरानी तुर्की संस्कृतियों का संघर्ष और परस्पर एक दूसरी से इनका प्रभावित होना। चौथा अध्याय-भारत में अंग्रेजी राज्य और ईसाइयत का प्रचार। पाँचवाँ अध्याय अब शुरू है, स्वराज्य में—सांस्कृतिक पर्य्य-

वेक्षण और एकता के लिए प्रयत्न !

हम बौद्ध संस्कृति को पृथक् नहीं मानते। वह भारतीय संस्कृति है। हाँ, भारत के बौद्धों की भारतीय संस्कृति है; जापान के बौद्धों की जापानी संस्कृति। चीन के बौद्ध चीनी संस्कृति के हैं। यानी मजहब और चीज है, संस्कृति और चीज।

इस पुस्तक में चार अध्यायों का सामान्य दिग्दर्शन होगा और पांचवें का कर्त्तव्य-निरूपण। चार अध्याय तो पांचवें अध्याय की भूमिका या पूर्वपीठिका भर हैं। परन्तु भूमिका या पूर्वपीठिका ही तो आधार है। उसी के सहारे आगे की चीज है।

मुझे पता है, इस पुस्तक से एक हलचल मचेगी। पुस्तक की सफलता भी इसी में है। सांस्कृतिक एकता के लिए कबीर, अकबर, नानक, गांधी आदि एक से एक बड़े महात्मा ने जान की बाजी लगा कर उद्योग किया; पर सफलता किसी को न मिली! इस का कारण क्या है? इसी की खोज इस पुस्तक में है। संस्कृति की खोज। *'डिस्कवरी आफ़ कल्चर'*

कनखल (उ०प्र)
श्रावणी २०१३ वि० } —किशोरीदास वाजपेयी

समर्पण

उन राष्ट्रीय तत्त्वों को, जो इस युग में भय और प्रलोभन से ऊँचे उठ कर अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं।

— लेखक

संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय

(१)

संस्कृति का स्वरूप
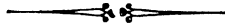
संस्कृति है क्या चीज, इस पर पहले विचार करना है। 'संस्कार' और 'संस्कृति' सगे भाई-बहन हैं; यानी एक ही धातु से, एकही उपसर्ग से, एक ही प्रक्रिया से ये दोनों शब्द बने हैं; पर अर्थ में किञ्चित् भेद हो गया है। अर्थ-भेद न होता, तो शब्द-भेद ही क्यों होता ? 'अर्थभेदात् शब्द-भेदः' या 'शब्दभेदात् अर्थभेदः'। 'दुर्गति' और 'दुर्गमन' में अन्तर है।

'संस्कार' शब्द के दो अर्थ मुख्य हैं— १- परिष्कार और २- संसर्गजन्य प्रभावविशेष। 'भाषा-संस्कार' का अर्थ है भाषा का परिष्कार। 'इस के संस्कार ही ऐसे हैं कि किसी की बात का असर नहीं पड़ता !' यहां 'संस्कार' का मतलब 'परिष्कार' नहीं; प्रत्युत किसी के संसर्गजन्य विचारों का या विकारों का प्रभावातिशय है। आप किसी वस्त्र में चमेली के फूल या छिला हुआ लहसुन अलग-अलग लपेट कर रख दें। घंटा-दो घंटा रहने दें। फिर फूल-लहसुन अलग कर दें। ये दोनों चीजें अलग होने पर भी कपड़े में चमेली की सुगन्ध और लहसुन की दुर्गन्ध बनी रहेगी। फूलों का या लहसुन का संस्कार कपड़े में

रह गया। इस 'संस्कार' को 'परिष्कार' न कहा जाए गा। कुछ इसी अर्थ को लेकर 'संस्कृति' शब्द चला है। किसी जाति का जीवन बहुत लम्बा होता है--हजारों वर्षों का—पचास-पचास हज़ार वर्ष और इससे भी अधिक का। एक जाति में जन-संख्या भी बहुत होती है—लाखों-करोड़ों। तो, इतने लोग पर-स्पर भिन्न-वृत्ति-प्रवृत्ति के होते हुए भी कुछ बातों में एकसे होते हैं—उनकी कुछ बातें एक-सी होती हैं। एक घर में बहुत से व्यक्ति होते हैं, भिन्न-प्रकृति-प्रवृत्ति के। परन्तु वे सब रहन-सहन, खान-पान आदि में एक-से होते हैं। जाति की भी यही स्थिति है। एक घर के व्यक्तियों की परस्पर जो स्थिति है, वही एक जाति के लाखों करोड़ों जनों की भी। एक जाति के सब घर और कुटुम्ब अलग-अलग होने पर भी कुछ बातों में एक होते हैं तभी तो एक 'जाति' होती है। इसे कुछ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

घर का एक दायरा होता है, उसी तरह एक देश या राष्ट्र का भी। किसी घर में जो पैदा हो जाता है, वह उस की सम्पत्ति-समृद्धि का मालिक या हिस्सेदार कुदरती तौर पर बन जाता है। इसी तरह जिस देश में जिसका जन्म होता है, उस पर उसका स्वत्त्व स्वतः सिद्ध है, जन्म सिद्ध अधिकार है। तभी तो लोकमान्य तिलक ने कहा था—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। घर पर जब विपत्ति आती है, तो सब के ऊपर पड़ती है। देश पर आई हुई विपत्ति भी सबको भोगनी पड़ती है। एक घर में पैदा हुए लोग कुटम्बी कहलाते हैं और एक देश या राष्ट्र में पैदा हुए लोगों का समष्टि-नाम 'जाति' है। 'जाति' का सम्बन्ध जन्म से ही है। जिस धातु से 'जन्म' बना है, उसी से 'जाति' की भी निष्पत्ति है। एक घर के लोगों में भी परस्पर कुछ भेद होता है, स्थिति में भी भेद होता है। कोई

समाज में अत्यधिक सम्मान पा लेता है, ऊँचे पद पर पहुंच जाता है और कोई साधारण स्थिति में ही रह जाता है। कोई बहुत नीचे भी गिर जाता है। परन्तु सबका कुटुम्ब एक ही है। उच्च स्थिति के सदस्य से कुटुम्ब का सम्मान बढ़ता है और नीच से अपमान भोगना पड़ता है। इसी तरह राष्ट्र के—जाति के—किसी एक ही सदस्य से सब का सिर ऊँचा हो जाता है। और एक ही से नीचा भी हो जाता है। एक घर के व्यक्तियों के काम जैसे अलग-अलग होते हैं, उसी तरह जाति के लोग भी अलग अलग काम करते हैं—अलग-अलग स्थिति भी उन की होती है। परन्तु जाति से सब एक हैं।

उदाहरण लीजिए। हिन्दू जाति है, जिसमें हजारों वर्ग हैं, जिन का समावेश चार वर्णों में किया गया है। ब्राह्मण से लेकर भंगी तक, सब एक जाति के हैं—सब का जन्म हिन्दुस्तान में हुआ है। सब के संस्कार एक-से हैं—सबकी संस्कृति एक है। ब्राह्मण से लेकर भंगी तक, सभी वर्गों के हजारों स्त्री-पुरुष कहीं खड़े कर दीजिए और फिर किसी दूसरी जगह के व्यक्ति को सामने ला कर खड़ा कर दीजिए, जो उन्हें पहले से जानता न हो। फिर उस से कहिए कि इस समूह से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, लुहार, चमार, भंगी आदि वर्गों के व्यक्तियों को छाँट कर अलग कर दीजिए; तो वह सौ जन्मों में भी वैसा न कर सकेगा। क्यों ? इसलिए कि वे सब एक जाति के हैं— सब हिन्दू हैं। सब की संस्कृति एक है। अच्छा, रूप से न सही, नाम-भेद से वह सब को पृथक् पृथक् वर्गशः पहचान सकेगा ? हर्गिज नहीं। ब्राह्मण कहेगा—मेरा नाम केशव, बाप का नाम रामचन्द्र। भंगी भी कहेगा—नाम मेरा केशव, बाप का नाम रामचन्द्र। ब्राह्मण की लड़की भी सावित्री, सुशीला और भंगी की भी

लड़की सावित्री सुशीला। तब कैसे वर्ग-भेद होगा ? वे सब एक जाति के लोग काम अलग-अलग करते हैं; बस ! गरीब अमीर की स्थिति देखकर भी वर्ग-भेद पहचानना असम्भव है। संस्कृति की एकता ने एक जाति बना दी है। एक जाति में अनेक मत-मजहब होते हैं। उस एकत्रित समूह में वैदिक सनातनी, आर्य-समाजी, वैष्णव, शैव सभी तरह के लोग होंगे और अवैदिक, जैन, बौद्ध आदि भी। कुछ 'ला-मजहब' और नास्तिक भी होंगे। क्या कोई पहचान सकता है कि आर्यसमाजी कौन है और जैन कौन है ? आस्तिक और नास्तिक (जाति में) सब एक हैं। संस्कृति की एकता उन्हें पृथक् नहीं होने देती। उन का वर्गशः या मतशः पार्थक्य जातीय एकता का बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि एक जाति की एक ही संस्कृति होती है और सांस्कृतिक एकता सब को एक किए रहती है।

किसी जाति की संस्कृति बहुत लम्बे अरसे से चले आ रहे पुरखों के जीवन-प्रवाह के समुदित संस्कार ही हैं। वे संस्कार जाति-जीवन में इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि उन्हें कोई अलग कर नहीं सकता। वे संस्कार विचार में, आचार में, भाषा में, वेश-विन्यास में, खान-पान में, सर्वत्र अपनी अमिट छाप रखते हैं,। यही संस्कृति है। एक संस्कृति से एक जाति की पहचान हो जाती है। एक हिन्दू संसार के किसी भी भाग में चला जाए, विशेषज्ञ जन पहचान लें गे कि यह हिन्दू है। जो लोग हिन्दू जाति की संस्कृति से परिचित नहीं, वे कुछ न समझ पाएँ गे। परन्तु कोई विशेषज्ञ भी यह नहीं बता सकता कि यह जन ब्राह्मण है, या कायस्थ है, या भंगी है। कारण, ब्राह्मण-भंगी आदि पृथक् जातियां नहीं, वर्ग हैं। इसी तरह बढ़ई-लुहार आदि जातियां नहीं वर्ग हैं। लोग भूल से इन्हें पृथक्-पृथक् जाति

कहते-समझते हैं। यदि ये पृथक् जातियाँ होतीं, तो इनकी संस्कृति पृथक् होती और संस्कृति-पार्थक्य से वे पृथक्-पृथक् सरलता से पहचाने भी जा सकते। ऐसा है नहीं। एक जाति है, एक नेशन है। इस जाति (या नेशन) का अपना राष्ट्र है— हिन्दुस्तान, भारतवर्ष।

'हिन्दू' न सही, 'हिन्दुस्तानी' सही

ऊपर हमने बताया कि हिन्दू' एक जाति का नाम है, किसी मजहब या वर्ग का नहीं। परन्तु तो भी, कुछ लोग 'हिन्दू' एक मजहब समझने लगे हैं! पूछो, इस मजहब को किस ने चलाया? वेदों ने? तब जैनों को क्या कहा जाए गा? कलकत्ते के बाबू पद्मचन्द्र जैन बहुत दिन तक हिन्दूमहासभा के मंत्री रहे। बौद्ध भी वेद नहीं मानते; परन्तु बरमा के बौद्ध 'भिक्षु उत्तमा' हिन्दूमहासभा के अध्यक्ष थे। हिन्दुओं में ला-मजहब और नास्तिक भी हैं— सदा रहे हैं। इन्हें कभी किसी ने 'गैर-हिन्दू' नहीं कहा! तब 'हिन्दू' एक मजहब कैसे? अधिक से अधिक कहा जाए गा कि—

'जो (हिन्दुस्तान न सही) भारतवर्ष से बाहर पैदा हुए ईश्वरीय दूत (पैगंबर) हजरत ईसा या हजरत मुहम्मद साहब के मत को नहीं मानते, वे सब हिन्दू हैं।"

हम निषेधात्मक परिभाषा माने लेते हैं और 'हिन्दू' तथा 'हिन्दुस्तान' की जगह 'भारत' तथा 'भारतीय' कहेंगे। भारत एक देश या राष्ट्र और 'भारतीय' एक जाति। 'भारतीय' जाति की एक संस्कृति–'भारतीय संस्कृति'। अब इस संस्कृति के कोई भेद न होंगे। बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति, वैष्णव संस्कृति, नास्तिक संस्कृति जैसे काल्पनिक भेद उपहासास्पद हैं। 'लुहार-संस्कृति' और 'बढ़ई-संस्कृति' भी मजाक है। इसी तरह

'हिन्दू संस्कृति' और 'मुस्लिम संस्कृति' के भेद न होंगे। एक 'भारतीय संस्कृति'। बंगाल के (स्वर्गीय) राज्यपाल श्री हरेन्द्र कुमार मुकर्जी ईसाई थे। उन्हें या उनकी गृहिणी को देख कर क्या कोई पहचान सकता था कि ये ईसाई हैं? असम्भव! मैं ने उनके दर्शन कलकत्ते में एक सांस्कृतिक समारोह में किए थे। सफेद चुन्नटदार धोती, कुर्ता और बस! श्रीमती मुकर्जी एक सादी साड़ी पहने थीं। परन्तु मुकर्जी साहब ईसाई पक्के थे। जन्म भर एक मिशन में काम किया था और मृत्यु पर ईसाई-पद्धति से अन्त्य क्रिया उनकी हुई थी। बंबई के भूतपूर्व राज्यपाल श्री महाराजसिंह भी ईसाई हैं। राजकुमारी अमृतकौर भी ईसाई हैं। इन लोगों के नाम-रूप से कोई भी इन्हें हिन्दुओं से भिन्न नहीं कर सकता। ये भारतीय जाति के हैं, मजहब से ईसाई हैं। कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष श्री व्योमेशचन्द्र चक्रवर्ती भी ईसाई थे। यहाँ (गुरुकुल कांगड़ी के जलसे पर) एक बड़े विद्वान ईसाई पादरी आर्य-समाज का खण्डन करने आए थे–'पं० जगन्नाथ राव'। उनके लड़के का नाम 'पं० कृपानाथ राव'। "राव" मराठा ब्राह्मण होते हैं। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से घर का हाल पूछा। ईसाई हो जाने के बाद उन का विवाह जिस स्त्री से हुआ, वह जन्मना मुसलमान थी और ईसाई हो जाने पर भी उसका पूर्वनाम ('हमीदा') बदला नहीं गया था। पं० जगन्नाथ राव ईसाई मजहब के बड़े कट्टर प्रचारक थे। हरिद्वार में भी एक मिशनरी केन्द्र है। यहीं वे बस गए थे। उनका लड़का 'कृपानाथ राव' स्कूल में मेरा शिष्य रह चुका है, अब सेना में अच्छे पद पर है। पं० जगन्नाथ राव की लड़की का नाम 'मृदुला' था। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से पूछा--'आप ईसाई हो जाने के बाद भी 'राव' हैं?' बोले–'मजहब बदला है, या पुरखे भी बदल दिए?' उत्तर बहुत ठीक था। ज्वालापुर-गुरुकुल

महाविद्यालय के आचार्य पं० नरदेव शास्त्री भी 'राव' हैं। इनका अपना असली नाम 'नरसिंह राव' है। लाहौर में इनके विद्यागुरु आर्य-विद्वान ने 'नरदेव' नाम कर दिया था। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से कहा—'तो फिर राव जी तो आप के ही वर्ग के हैं।' (महाविद्यालय में पं० नरदेव शास्त्री को सब लोग 'राव जी' ही कहते हैं)। मेरे प्रश्न के उत्तर में पं० जगन्नाथ राव ने कहा—"हाँ हम दोनो 'राव' तो हैं; पर ये वेदों के माया-जाल में पड़े हैं; मैं बाहर निकल कर प्रकाश में आ गया हूं!" मैं ने पं० जगन्नाथ राव से विदेशी मिशनरियों के बारे में भी बात-चीत की थी। मैं ने कहा 'ये, लोग तो अराष्ट्रीयता फैलाते हैं! आप का इन से क्या मेल?' उन्होंने कहा—'उन लोगों की जातीयता (नेशनेलिटी) जरूर भिन्न है; पर हम तो ईसाइयत के प्रचार में साथ हैं। जातीयता में हम अलग हैं। जातीयता में हम आप के साथ हैं। मजहब में अलग हैं।'

संक्षेप यह कि 'भारत' एक राष्ट्र, 'भारतीय जाति' यानी 'भारतीयता' जाति और इस जातीयता को अभिव्यक्त करने वाली एक 'अपनी' संस्कृति है।

बाहर के लोग

जिस घर में जिसका जन्म होता है, वह उस पर स्वामित्व रखता है और अपने कुल की मर्यादा का ध्यान रखता है, अपने पुरखों के संस्कार लेकर चलता है। परन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि किसी दूसरे घर में पैदा हुए लड़के को लोग 'गोद' ले लेते हैं और वह इस नये घर में आकर इसका मालिक बन जाता है। परन्तु गोद आए हुए लड़के को इस नये घर को ही 'अपना' घर समझना होता है। इसी घर के पुरखों को वह अपनाता है और इसी के आचार-विचार ग्रहण करता है।

परन्तु इस के मन में कदाचित् यह भी रह सकता है—रहना स्वाभाविक है—कि मैं इस घर में आ गया हूं, पर मेरा असली अपना घर तो वह है ! यानी ममता उधर भी रहती है, रह सकती है। परन्तु इस (गोद आए हुए) लड़के और लड़कों के लड़के आगे उस की ममता एकदम छोड़ देते हैं, जहां से उनका वह पिता या पितामह गोद आया था। वे सुनी-सुनाई बातों से इतना जानते भर हैं कि हमारे पितामह अमुक जगह से गोद आए थे। और आगे चल कर वह स्मृति भी प्रायः नहीं रहती।

इसी तरह एक जाति किसी दूसरी जाति के घर में—उस के राष्ट्र में—पहुँच जाती है। वहां यदि पहुँच युद्ध आदि के द्वारा विजेता के रूप में है, तो कुछ दिन तक गुप्त-प्रकट संघर्ष रहता है और फिर मेल हो जाता है। धीरे-धीरे यह नई आई हुई जाति नई जगह को अपना लेती है—उसी में घुल-मिल जाती है और वह अनेकता पुनः एकता में परिणत हो जाती है। ऐसी स्थिति में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'—बहुत्व के आधार पर नाम-रूप ग्रहण होता है। जो धारा पहले से प्रतिष्ठित है. जो आधिक्य से भी है, उस का नाम-रूप रहता है। दूसरी उसी में विलीन हो जाती है। ऐसा नहीं होता कि इस 'संगम' के बाद न 'गंगा' और न 'यमुना' नाम रहे, वरन 'मिश्रित' नाम की कोई नई ही नदी बन जाए ! यह भी नहीं कहा जाता कि प्रयाग में गंगा और यमुना दोनों समाप्त हो गईं और एक तीसरी ही नदी बन गई और इस 'मिली-जुली' नई नदी का नाम 'इलाहाबादी' नदी रख दिया जाए ! गंगा में प्रारम्भ से लेकर समुद्र पर्यन्त हजारों नद-झरने मिले हैं। और बीसों नदियां मिली हैं। दस-पाँच तो बड़ी-बड़ी नदियाँ मिली हैं। परन्तु सब की वह मिली-जुली धारा रही आखिर 'गंगा' ही।

इसी तरह भारतीय जाति में--'इंडियन नेशन' में--बाहर से आ-आ कर शक, हूण आदि न जाने कितनी जन-धाराएँ मिलीं और खप गईं। आज कौन कहता है कि हमारे पुरखे शक या हूण थे? सब भारतीय रंग में रँग गए। किसी को शकों या हूणों का वंशज कह दो, तो वह गाली समझता है! मैं ने एक बार शब्द-व्युत्पत्ति के लिहाज से 'सक्सेना' तथा 'भटनागर' जनों को शकों आदि से कह दिया, तो लोगों ने बहुत बुरा माना! बुरा मानने की बात भी थी। भारतीयता के रंग में शराबोर कोई जन-वर्ग अपने को किसी पर-राष्ट्र से अनुस्यूत कैसे कह सकता है? दूसरा कोई वैसा कहे. तो वह बुरा क्यों न माने गा? मतलब यह कि शक-हूण आदि की चर्चा केवल इतिहास में है; यद्यपि उनके बड़े बड़े समुदाय यहाँ रहे और इस देश पर शासन किया। फिर घुल-मिल गए। किसी ने उन विजातीय जनों को 'भारतीय जाति' में मिलाने के लिए कोई उद्योग नहीं किया। कोई 'शुद्धि-सभा' नहीं बनाई गई। इतिहास में ऐसा कोई जरा भी संकेत नहीं है। वे सब स्वतः भारतीय बन गए। अपने बच्चों के नाम भारतीय भाषा में रखने लगे. यहां का रहन-सहन और आचार-विचार ग्रहण कर लिया और बस! मत-मजहब चाहे जो मानते रहो। एक जाति में सैकड़ों मत-मजहब रह सकते हैं। कोई ईश्वर को मानता है, कोई नहीं मानता; दोनों ही 'भारतीय' हैं, यदि भारतीयता उनमें है। जब तक कोई विदेशी रँग-ढँग में डूबा रहे गा, तब तक वह 'भारतीय जाति' या 'इंडियन नेशन' का न समझा जाए गा। हो नहीं सकता, कोई हजार कहता समझता रहे!

शक और हूण आदि तो 'भारतीय' बन कर हम में

मिल-खप गए; पर आगे आने वाले कई जातियों के लोग न मिल सके—न मिले ! मजहब की आड़ लेकर एक पृथक् संस्कृति का निर्माण कर लिया गया। जब दो संस्कृतियां हैं, तो दो जातियां बन ही गईं ! 'संस्कृति' और 'जातीयता' प्रायः एक ही चीज हैं। 'हिन्दूपन' और 'हिन्दू संस्कृति' एक चीज समझिए। 'हिन्दू' तो एक जाति, जिस में हजारों मत-मजहब और वर्ग, या दल हैं। परन्तु 'इस्लाम' एक मजहब है, जाति नहीं। इस मजहब के आधार पर भारत में एक नई संस्कृति का निर्माण किया गया, जिसे सब लोग 'मुस्लिम संस्कृति' कहते हैं। एक जातीय संस्कृति, या राष्ट्रीय संस्कृति और दूसरी मजहबी संस्कृति। तुर्क-संस्कृति, अरब-संस्कृति, ईरानी संस्कृति, चीनी संस्कृति आदि की तरह ही 'हिन्दू संस्कृति' है, राष्ट्रपरक, न कि मत-परक। 'हिन्दू संस्कृति' और 'भारतीय संस्कृति' पर्य्याय-शब्द हैं। दूसरे लोग जब 'हिन्दू' एक मजहब समझने लगे, तब 'भारतीय संस्कृति' शब्द चला। परन्तु 'मुस्लिम संस्कृति' के साथ-साथ 'हिन्दू संस्कृति' शब्द भी चलता ही रहा, चल ही रहा है और आगे चलेगा भी। शब्द कहाँ तक छोड़े जाएँगे। 'हिन्दू' भी भारतीय जनों को विदेशी जनों ने ही कहना शुरू किया था। इस शब्द का 'सिन्धु' से सम्बन्ध है; किसी मजहब से नहीं। इस लिए हमने—भारतीयों ने—इसे ही ग्रहण कर लिया। सिन्धु (सिन्ध नदी) से लेकर सिन्धु (पूरबी-दक्षिणी समुद्र) पर्य्यन्त, समग्र भू-भाग, आगे चल कर 'हिन्द' कहलाने लगा। 'हिन्द' एक राष्ट्र और उस की जाति 'हिन्दू' जैसे 'नहर' से नेहरू'। जब हिन्दू' शब्द को लोग मजहब में दाखिल करने लगे, तो 'हिन्दी' शब्द चला। परन्तु इस 'हिन्दी जाति' का निर्माण, या उस जाति का नया नाम होने पर भी 'वह' पृथक् ही रही ! जब दो संस्कृतियाँ,

तो दो जातियाँ, तब दो राष्ट्र ! आगे चल कर इस भिन्न संस्कृति–मुस्लिम तहज़ीब––के आधार पर एक राष्ट्र के दो टुकड़े किए गए ! बीच से नहीं, कहीं–कहीं से ! जहाँ जहाँ 'मुस्लिम संस्कृति' या इस्लाम की प्रधानता थी, सब को काट-जोड़ कर एक नया राष्ट्र बना—'पाकिस्तान' ।

परन्तु बचे हुए भारत में अब भी वह दूसरी संस्कृति है, उस संस्कृति के अभिमानी यहाँ कितने ही करोड़ हैं ! ये लोग अब भी माँग करते हैं कि इस देश की भाषा इसी देश की लिपि (नागरी) में ही नहीं, फारसी लिपि में भी लिखी जानी चाहिए और इस भाषा में संस्कृत के नहीं, अरबी-फारसी-तुर्की आदि के शब्द रहने चाहिए । भिन्न-संस्कृति के अनुरूप ये लोग सभी बातों में भिन्नता बनाए हुए हैं । अभी परसों (ता० १७-८-५६) की बात है—अखबारों में छपी है कि मुहर्रम के दिन एक बहुत बड़ी मुस्लिम भीड़ ने एक मन्दिर के सामने 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लगा-लगा कर आसमान गुँजा दिया ! हैदराबाद आदि में पाकिस्तानी झंडा फहराने की कई घटनाएँ सामने आ चुकी हैं । भला इस्लाम से और 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' से क्या सम्बन्ध ? कभी कोई अफगान या ईरानी मुसलमान भी 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' और 'अफगान मुर्दाबाद' के नारे लगाता है ? कभी चीन के मुसलमानों ने भी, वहाँ के बौद्धों या ईसाइयों से झगड़ कर, 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' या 'अरब जिन्दाबाद' के नारे लगाए हैं ? असम्भव ! उन लोगों में राष्ट्रीयता है, जातीयता है और मजहब उस (राष्ट्रीयता या जातीयता) पर हावी नहीं हो सकता । राष्ट्रीयता ही आगे बढ़ेगी । चीन बौद्ध देश है; बुद्ध की मान्यता वहाँ सर्वोपरि है । परन्तु इस का मतलब यह नहीं कि बुद्ध की जन्मभूमि (भारत) के वे

मानसिक गुलाम हों। वे सब चीनी पहले हैं; बौद्ध आदि बाद में। पुराणों से तो यह भी पता चलता है कि बौद्ध चीन ने बुद्ध के इस देश (भारत) पर सैनिक आक्रमण भी एक बार किया था। और यहां से पराजित होकर गया था और प्रतिज्ञा की थी कि "इस तरह राजनैतिक दृष्टि से आगे चीन कभी भी इधर मुँह न करे गा।" मतलब इतने से कि मजहब से ऊँचा दर्जा राष्ट्रीयता या जातीयता का है। जाति ही नहीं, तो मजहब कहाँ रहे गा ?

जो बात भारत में है, वही पाकिस्तान में है। पश्चिमी पाकिस्तान से 'नापाक' लोगों को, तहस नहस करके, भगा खदेड़ दिया गया है और इस तरह यह भाग तो पाक हो गया है, पूरी तरह ! परन्तु पूरबी पाकिस्तान में अभी भी बहुत से भारतीय बने हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि बँगला भाषा और बँगला लिपि का यह महत्त्व है। इस्लामिक संस्कृति वाले भी अपने काम में बँगला भाषा और बँगला लिपि का प्रयोग करते हैं। यों दोनो जगह एक भाषा और एक लिपि है। इसी एकता के कारण करोड़-डेढ़-करोड़ भारतीय अभी वहाँ हैं; यद्यपि धीरे-धीरे निकाले जा रहे हैं। यानी, पाकिस्तान के भी एक भाग में अभी तक भारतीय संस्कृति है। इन दो संस्कृतियों का परिणाम वही हो सकता है, जो होता आया है ! हो सकता है कि कभी स्वतन्त्र राष्ट्र पाकिस्तान में भी राष्ट्रीयता का उदय हो और 'फजलुल हक' जैसे अरबी नामों की जगह बँगला भाषा के शब्दों में बंगाली मुसलमान अपने बच्चों के नाम रखने लगें और अरबी-ईरानी रहन-सहन आदि की जगह बंगाली रहन-सहन आदि अपना लें। हो सकता है, सिन्ध और पंजाब के मुसलमान भी अरब की

भाषा में नहीं अपनी (सिन्धी-पंजाबी) भाषा में अपने बच्चों के नाम रखकर सिन्धी और पंजाबी रहन-सहन अपना लें। तब तो एक राष्ट्र, एक संस्कृति ठीक। सम्भव है, भारत के मुसलमानों से पहले पाकिस्तानी मुसलमानों में राष्ट्रीयता का जागरण हो और वे 'अल्लाबख्श' की जगह 'ईश्वरदत्त' नाम से अधिक प्यार करें। मजहब तो मना नहीं करता। हजरत मुहम्मद साहब ने, या दूसरे किसी पैगंबर ने तो कहीं किसी हुक्म में ऐसा कहा नहीं कि मुसलमान जहां पैदा हुआ हो, वहाँ की भाषा में उस का नाम न रहे और वहां के रीति-रिवाज वह न माने! पाकिस्तान के मुसलमान स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं; इस लिए उन में राष्ट्रीयता का जागरण अधिक सम्भव है! तुर्क-नेता कमाल पाशा के हाथ में जब प्रभुसत्ता आई, तो उसने अपने नाम का एक अंश बदल लिया था। 'पाशा' की जगह 'अतातुर्क' कर दिया था; इस लिए कि 'पाशा' अरबी भाषा का शब्द है; 'अतातुर्क' तुर्की भाषा का है। इस जोर से राष्ट्रीयता को पकड़ने का फल यह हुआ कि तुर्कराष्ट्र ऐसा शक्तिशाली हो गया कि संसार उधर देखने लगा। कमाल अतातुर्क ने इस्लाम नहीं छोड़ा, उसकी और प्रतिष्ठा की; परन्तु राष्ट्रीयता का जय-घोष किया। इस्लाम का मतलब यह तो नहीं कि किसी दूसरे देश के मानसिक गुलाम बन जाओ!

परन्तु भारत में और पाकिस्तान में अभी बहुत संख्या उन लोगों की है, जो मजहब को राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय संस्कृति से भी ऊपर मानते-समझते हैं! हम यह भी मान लेते हैं, मजहब को सबसे ऊपर समझिए; परन्तु मजहब के नाम पर दूसरे देशों की मानसिक दासता तो मजहब नहीं है! दोनों चीजें अलग-अलग हैं।

संस्कृति का यह पाँचवाँ युग या पाँचवाँ अध्याय भारत में चल रहा है, जिस में पाकिस्तान भी सम्मिलित है। राजनैतिक या शासनिक दृष्टि से राष्ट्र के दो भाग हो गए हैं--संस्कृति-भेद के नाम पर। परन्तु वस्तुतः दोनों भागों की संस्कृति एक है, जिसे आगे चल कर लोग समझें गे। इस पाँचवें सांस्कृतिक युग का यह सब से बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है कि हम लोग संस्कृति का सही रूप समझ कर मिथ्याभिमान छोड़ दें। इससे 'एक जाति' का निर्माण होगा—एक जाति का महत्त्व समझ में आए गा—और राष्ट्र एक सूत्र में बँध कर तेजस्वी होगा।

संस्कृति के प्रादेशिक तत्त्व

किसी बहुत बड़े राष्ट्र के अङ्ग-उपाङ्ग (प्रदेश-मण्डल आदि-) इतने-इतने बड़े होते हैं कि संसार के छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपनी गोद में बैठा सकते हैं। ऐसे बड़े राष्ट्रों में एक भारत-वर्ष भी है। ऐसी स्थिति में जीवन का रहन-सहन और बोली-भाषा आदि में अन्तर आना स्वाभाविक ही है। यही अन्तर अवान्तर संस्कृतिभेद करता है। यदि अमरीका या रूस में अपने भारत के कुछ बंगाली, कुछ पंजाबी, कुछ मराठे और कुछ तामिल जन इकट्ठे कहीं दिखाई दें, तो कोई भी कह देगा—'ये हिन्दुस्तानी हैं'। परन्तु कोई भी विदेशी यह भेद न कर सके गा कि इन में कौन बंगाली है, कौन गुजराती। कोई ऐसी चीज जरूर है, जो बंगाली और गुजराती आदि में समान रूप से है। यही सामान्य वस्तु जाति-तत्त्व है। वह 'हिन्दुस्तानी-पन' है, हिन्दुस्तान की जातीयता या संस्कृति है कि लोग पहचान लेते हैं। वहाँ हिन्दुस्तानी मुसलमान में भी कोई अन्तर न दिखे गा। उस में भी हिन्दुस्तानीपन है; भले ही अन्तर कुछ हो। यह

तो हुई राष्ट्र की चीज।

परन्तु प्रत्येक प्रदेश अपनी विशेष स्थिति रखता है। उस स्थिति के अनुसार उस का सामाजिक जीवन ढलता-चलता है। उस विशेपता के कारण हम पहचान लेते हैं कि यह बंगाली है, पंजाबी है, या गुजराती है। परन्तु मत-मजहब या सम्प्रदाय आदि से कोई नहीं कह सकता कि यह वैदिक है, या अवैदिक; ईश्वरवादी है, या अनीश्वरवादी। प्रादेशिक संस्कृति सब में एक मिले गी।

इन विभिन्न प्रादेशिक तत्त्वों को एक सूत्र में गूँथने वाली चीज है—राष्ट्रीयता, जातीयता, भारतीयता या भारतीय संस्कृति। भारतीय सभी (प्रादेशिक) भाषाओं को एक सूत्र में लाने वाली है हमारी संस्कृत भाषा। पूर्व, पश्चिम और उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में जो जन-भाषाएँ हैं, किसी न किसी प्राकृत-अपभ्रंश के परिवर्तित रूप हैं। सभी प्राकृत-अपभ्रंशों की उपजीव्य संस्कृत भाषा रही है और आज की सभी प्रादेशिक भाषाओं की उपजीव्य भी संस्कृत ही है। दक्षिण भारत की भाषाओं का उद्गम पृथक् है; ऐसा भाषातत्त्वविद कहते हैं। जान भी यही पड़ता है। परन्तु आज की सभी दक्षिण प्रदेशीय भाषाओं पर संस्कृत का उतना ही प्रभाव है, जितना अन्य प्रदेशीय भाषाओं पर। यों संस्कृति की उपजीव्यता ने भारत की सभी भाषाओं में एक-सूत्रता कायम कर रखी है।

सभी प्रदेशों के पहनावे में कुछ न कुछ अन्तर मिलेगा; पर तो भी कोई ऐसी चीज है कि सब एक जना-माने जाते हैं। स्त्रियों में धोती साड़ी के रंग-रूप प्रति प्रदेश भिन्न हैं; पहनने का ढँग भी भिन्न है; परन्तु तो भी सब भारतीय हैं। सिन्दूर की बिन्दी तो सभी प्रदेशों की सौभाग्यवती स्त्रियाँ मस्तक पर

लगाती ही हैं। कोई भी भारतीय स्त्री अरबी पहनावे में न मिले गी! भारतीय शब्द का यहाँ तात्त्विक अर्थ लीजिए।

सबसे बड़ा और सुदृढ़ एकता-सूत्र है पुरखों का एक होना। सभी प्रदेशों के भारतीय अपने को याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, राम, कृष्ण आदि का वंशज मानते हैं। एक पुरखे हैं, तब ऊपरी अनेक-रूपता अलग कैसे करे गी?

कुछ जातीय प्रतीक होते हैं, जो सब को एक किए रहते हैं। उदाहरणार्थ गौ के प्रति जो भावना-विशेष है, वह भी जबर्दस्त तत्त्व है, एक जातीयता के निर्माण में। किसी भी प्रदेश का 'भारतीय' ऐसा न होगा, जिस की दूसरी भावना हो। जो अभारतीय तत्त्व हैं, उनकी बात अलग है।

वैदिक काल से अब तक हमारी संस्कृति में बहुत कुछ परिष्कार-परिवर्तन हुए हैं, बहुत मोड़ आये हैं; परन्तु धारा वही है। यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा जो रहन-सहन आज है, वही वैदिक युग के हमारे पूर्वजों का था। उनकी भाषा में और हमारी आज की भाषाओं में कितना अन्तर है? परन्तु तो भी, हमें उस परम्परा का अभिमान है और हम उन पुरखों के नाम लेकर गर्व का अनुभव करते हैं।

एक जाति या राष्ट्र में जो एक सूत्र होता है, सबको बाँध रखने वाला, वही संस्कृति है; यह कहा जा चुका है। जाति या समाज में कुछ ऐसे भी तत्त्व होते हैं, जो कुछ अलग ही चलते हैं। यदि किसी देश में मजहबी कट्टरता हुई, तो ऐसे तत्त्व एकदम नष्ट कर दिए जाते हैं—नष्ट कर दिए गए हैं, या देश से निकाल दिये गए हैं। परन्तु यदि राष्ट्र में उदारता हुई, तो वे तत्त्व भी पड़े रहते हैं। वैदिक युग से ही भारत में गौ को अधिक महत्त्व मिला। ऋषियों ने कहा कि तुम्हारा शिव (कल्याण) बैल

पर है। गौ को वेदों में 'अघ्न्या' कहा गया है। यानी उसी समय से गोहिंसा जघन्य अपराध घोषित है। यह जाति-तत्त्व है। परन्तु इसके विपरीत, कुछ ऐसे भी कथानक हैं, जिनसे प्रकट है कि उस युग में भी ऐसे कुछ लोग थे, जो गौ को 'अघ्न्या' नहीं स्वीकार करते थे। परन्तु इन 'कुछ' लोगों से 'जाति नहीं बनती है। आज भी वैसे' कुछ' लोग हैं, हमारी हिन्दू जाति में, जो गौ को 'अघ्न्या' स्वीकार नहीं करते और गो-भक्ति का मजाक उड़ाते हैं। परन्तु तेंतीस करोड़ की जन-संख्या में ऐसे लोगों की संख्या तेंतीस से भी कम होगी; तेंतीस से आधे भी न निकलेंगे। परन्तु तो भी, एक-दो ऐसे प्रभावशाली लोग इन 'कुछ' लोगों में हैं, जिनकी विशेषता है और इतिहास में जिनका नाम रहेगा। ऐसी स्थिति में, इनके गोविषयक विचार यदि लिपिबद्ध कर दिये जाएँ, तो दो-चार सौ वर्ष बाद लोग इस भ्रम में पड़ सकते हैं कि भारतवर्ष में दो-चार सौ वर्ष पहले गौ का महत्त्व ऐसा न था! इसी तरह हमारे पूर्वजों में भी कुछ वैसे खास व्यक्ति हो गए हैं। तो भी, वे और ये 'कुछ' लोग किसी दूसरी जाति के न हो जाएँगे; क्योंकि 'जाति' का संबन्ध जन्म से है। सबके पुरखे एक हैं। जब तक एक पुरखे हैं, उन्हें मानते हैं, तब तक विजातीय नहीं। एक जगह इधर-उधर हो जाने पर भी अन्य बातों में एक हैं। और, बहुमत की ओर लोग खिंचते ही हैं। जो कल तक गौ के 'अघ्न्या' होने का मजाक उड़ाते थे, वे ही आज विधि-कानून बना रहे हैं कि "गौ अघ्न्या है। इसका हनन करने वाला अपराधी है और उसे सजा दी जाएगी।" यानी जातीयता नष्ट नहीं हो सकती, नष्ट नहीं की जा सकती, उसमें कुछ हेर-फेर जरूर होता है; सो भी स्वतः, धीरे-धीरे। संस्कार धीरे-धीरे बनते हैं, धीरे-धीरे बदलते हैं और धीरे ही धीरे नष्ट भी होते

हैं। पहले के संस्कार हटने में और दूसरे जमने में काफी देर लग जाती है। इसी लिए किसी जाति का कोई बड़ा समुदाय जब अन्यत्र स्थायी रूप से जा बसता है, तो वहाँ की संस्कृति लेने में देर लगती है। संस्कार मन की चीज है। यदि मन उधर न हो और ऊपर-ऊपर कोई चीज ले ली जाए, तो वह चली जाएगी। टिकेगी नहीं।

विजातीयता से संघर्ष

विजातीयता से संघर्ष होता है। ऊपर हमने बतलाया कि एक जाति की एक संस्कृति होती है और एक राष्ट्र की एक 'जाति' होती है। यदि कोई अन्यजातीय जनसमुदाय किसी अन्य राष्ट्र में जा बसता है, तो वह धीरे-धीरे वहीं घुल-मिल जाता है। परन्तु, यदि अपनी संस्कृति और जातीयता उसे अत्यधिक प्रिय है, तो फिर उससे विच्छेद सम्भव नहीं। अफ्रीका तथा लंका आदि में सामूहिक रूप से भारतीय जन बसे हुए हैं।--पुश्तों से बसे हुए हैं। परन्तु वे 'भारतीय' बने हुए हैं। उन्होंने अपना हिन्दुस्तानीपन नहीं छोड़ा है। इसके लिए उन्हें कष्ट सहने पड़े—सहने पड़ रहे हैं। वे वहाँ तंग किए जाते हैं, निकाले जा रहे हैं। अफ्रीका में पिछले पचास वर्षों से यही संघर्ष चल रहा है। मजहब या सम्प्रदाय का सवाल नहीं, राष्ट्रीयता का सवाल है। अफ्रीका या लंका के लोग यह समझ रहे हैं कि जरूरत पड़ने पर ये लोग हिन्दुस्तान का पक्ष लेंगे, यहाँ का नहीं। इसी लिए संघर्ष है। परन्तु अफ्रीका में बसे अंग्रेज लोग भारतवासियों को खदेड़ना चाहते हैं, यह देखने की बात है! जोर-जुल्म!

यदि किसी देश में इक्का-दुक्का कुछ अन्य देश के लोग जाते बसते रहते हैं, तब वैसे संघर्ष की कोई बात नहीं उठती। कोई भय नहीं, कोई खटका नहीं। जब अधिक संख्या हो जाती

है और अधिकार का सवाल उठने लगता है, तब स्थिति बदलती है। भारतवर्ष में जो विभिन्न देशों से मुसलमान आए थे, वे यहाँ मिले नहीं। उनमें अपने पुराने राष्ट्रों की राष्ट्रीयता या या जातीयता का उतना जोर न था, जितना मजहब या सम्प्रदाय का और 'भारतीय' न बनने का हठ। फलतः तुर्क, अरब, ईरानी आदि सभी जातियों के मुसलमान मिल गए और सबकी एक संस्कृति बन गई, जिसको 'मुस्लिम संस्कृति' नाम दिया गया। यह मुस्लिम संस्कृति न तो अरब की संस्कृति, न तुर्की या ईरान की। सब गड्डमगड्ड; और फिर उसमें हिन्दुस्तानी रङ्ग। इस मुस्लिम संस्कृति ने संघर्ष किया और देश का बँटवारा करा लिया। यानी संस्कृति-भेद से संघर्ष प्रायः हो जाता है। यदि संस्कृति-भेद न हो, केवल मत-मजहब या सम्प्रदाय का भेद हो, तो फिर जातीय संघर्ष नहीं होता। एक ही जाति है, तब संघर्ष कैसा ! इसी लिए चीन में कभी भी बौद्ध-मुस्लिम संघर्ष नहीं हुआ और जापान में शिन्तो-बौद्ध संघर्ष नहीं हुआ।

सभ्यता और संस्कृति

यहाँ तक जो कुछ कहा गया, उससे संस्कृति का रूप स्पष्ट हो गया है। सभ्यता एक पृथक् चीज है। सभ्यता सबकी एक, संस्कृति अलग-अलग। किसी को तंग करना असभ्यता है, रास्ते में कूड़ा फेंकना असभ्यता है और गंदा वातावरण रखना असभ्यता है। सभी देशों में, सभी जातियों में असभ्यता का एक ही रूप है। सभी जगह यह सभ्यता का रूप एक ही है। सो, सभ्यता और संस्कृति अलग-अलग चीजें हैं। संस्कृति संस्कार से बनती है और सभ्यता नागरिकता का रूप है।

धर्म सम्प्रदाय और संस्कृति

धारयति मानवीयम् जगत् इति धर्मः।

जो मानवीय जगत् की—मानवता की आधारशिला है, जिस पर मानवता टिकी हुई है, उसे 'धर्म' कहते हैं। हमारे धर्माचार्यों मे 'धर्म' का यह लक्षण किया है और उदाहरण के तौर पर 'अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अस्तेय' आदि की विधि बताई है। ऐसी विधियों के अपवाद भी होते हैं—सभी विधियों के अपवाद हो सकते हैं। संसार के सभी सभ्य राष्ट्रों में मानवता के आधार-स्तम्भ यहीं हैं। सहयोग-वृत्ति आदि इन्हीं के अनुसार -आधार पर हैं। हमारे धर्माचार्यों ने यह कहीं नहीं बतलाया कि 'मनु ने जो कहा है, वही धर्म है' या 'राम ने जो कहा या किया, वही धर्म है।' वह तो मत, मजहब या सम्प्रदाय है, जो किसी एक व्यक्ति के पीछे आँखें बन्द करके चलना। मनु ने तो कहा है कि बुद्धि से परीक्षा करके धर्म-अर्धम का निर्णय करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा है कि युग के अनुसार धर्म का रूप भी बदल सकता है। 'धर्म' शब्द 'कर्तव्य' के अर्थ में है। इसी लिए राजधर्म, पितृधर्म, पुत्रधर्म आदि की व्याख्या की गई है—राजा के कर्तव्य, पिता के कर्तव्य, पुत्र के कर्तव्य आदि। देश, काल, पात्र आदि के अनुसार कर्तव्यों में हेर-फेर हो सकता है। किस समय कैसी परिस्थिति आएगी, कौन जानता है ? मनु जी को क्या पता कि आगे देश के सामने कैसी समस्याएँ आएँगी और देश किस स्थिति में पड़ जाएगा ! वहाँ तो अपनी ही बुद्धि काम देगी और कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करना पड़ेगा ! इसी लिए आचार्यों ने वैसी व्यवस्था दी है।

मत, मजहब या सम्प्रदाय अलग चीज है। बुद्ध के पीछे चलने वाले 'बौद्ध सम्प्रदाय' या 'बौद्ध मत' के हैं। परन्तु बुद्ध ने भी धर्माधर्म- निर्णय में अपनी बुद्धि लगाने का उपदेश दिया है। केवल दिशानिर्देश भर कर दिया है कि 'बहुजनहिताय' काम

करो और दया का आधार लो। बस, इतना उनका 'मत' है। आगे बुद्धि को छूट है।

साधारणतः 'आचार' या 'आचरण' धर्म के भीतर आते हैं और प्रेरक विचार भी, जो आचार का निर्माण करें। जिन विचारों का आचार से सम्बन्ध नहीं, उनकी गिनती 'धर्म' में नहीं, 'दर्शन' में है। दर्शन-शास्त्र भिन्न-भिन्न हैं। कोई दर्शन ईश्वर की सत्ता मानता है, कोई नहीं। भारतीय मुनियों के सुप्रसिद्ध छह दर्शनों में प्रायः आधे ईश्वरवादी हैं और आधे अनीश्वरवादी। ईश्वरवादियों में भी परस्पर मत-भेद है। अनीश्वरवादी भी परस्पर विवदमान हैं। कोई सृष्टि-क्रम किसी तरह मानता है, कोई किसी तरह। इन दार्शनिक तत्त्व-विचारों का 'धर्म' से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। 'चोरी करना अधर्म है।' ईश्वरवादी यदि चोरी करेगा, तो वह भी 'अधर्मी' कहा जाएगा। ईश्वरवादी होने के कारण वह धर्मात्मा न हो जाएगा। 'जीवों पर दया करके उन्हें सुखी रखना चाहिए' धर्म है। एक अनीश्ववादी यदि दुखियों की सेवा में अपने को लगा देता है—गला देता है, तो वह 'धर्मात्मा' कहा जाएगा। किसी भी मत-मजहब या सम्प्रदाय मानने वाला धर्मात्मा है, यदि वह धर्म का आचरण करता है। धर्म तो मानव मात्र का एक ही समझना चाहिए—सब का आचार एक है—'जियो और जीने दो।' देश-काल आदि के अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन और बात है। धर्म में सब मत-मजहब एक हो सकते हैं और एक संस्कृति में अनेक मत-मजहब या सम्प्रदाय हो सकते हैं, होते हैं। सम्प्रदाय या मत-मजहब का भेद परलोक-सम्बन्धी बातों में होता है—ईश्वर कैसा है, वह कैसे मिलता है; इत्यादि। इन बातों का संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सो, मत-मजहब या सम्प्रदाय एक चीज है और धर्म दूसरी चीज। संस्कृति इन दोनों से भिन्न चीज है।

(२)

आदि युग—आर्यद्रविड़ सम्मिलन

हम लोगों का विश्वास यह है कि हम आर्य जन मूलतः इसी देश के निवासी हैं; परन्तु पाश्चात्य विद्वान् और कुछ 'अपने' विद्वान् भी यह कहते हैं कि आर्य जन बाहर कहीं से आए और यहां बस गए। वे द्रविड़ लोगों को यहां के मूल निवासी बतलाते हैं। यह भेद प्रायः भाषा की प्रकृति-प्रवृत्ति के अनुसार किया जाता है। भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और मध्य की भाषाएँ, 'आर्य भाषाएँ' कही जाती हैं। यानी पंजाबी, हिन्दी, बंगला; उड़िया, गुजराती, मराठी, आदि भाषाएँ आर्य प्रकृति की हैं और दक्षिण की भाषाएँ एक भिन्न प्रकृति की हैं। उन्हें लोग 'आर्येतर भाषा' की संज्ञा देते हैं। इस लिए कि 'अनार्य भाषा' शब्द खटकने वाला है। किसी दाक्षिणात्य के आचार-व्यवहारको 'अनार्य' बतला कर देखिए कि क्या कहता है! 'अनार्य' शब्द को वह एक गाली समझता है।

खैर, मतलब यह कि 'आर्य' और 'आर्य्येतर' नाम के दो वर्गों में भारतीय भाषाओं को रख कर यह निर्णय दिया गया कि आर्येतर (द्रविड़ या दक्षिणी) भाषाओं के बोलने वाले इस देश के मूल निवासी हैं और आर्य लोग बाहर से आकर यहाँ बस-जम गए। कालान्तर में आर्य और द्रविड़ लोग मिल कर एक हो गए। दोनों की संस्कृति एक हो गई। आचार-व्यवहार में तथा देवी-देवताओं की उपासना आदि में भी आदान-प्रदान हुआ। यों एक 'भारतीय संस्कृति' बन गई;—न आर्य-संस्कृति, न द्रविड़

संस्कृति। परन्तु आर्य और द्रविड़ दोनों हैं भी। आर्य तो सभी हैं—सब अपने को 'आर्य' कहते हैं। आर्य जन ही बाद में 'हिन्दू' कहलाने लगे। अंग्रेजी का सब से अच्छा पत्र मदरास से जो निकलता है, उसका नाम 'हिन्दू' है—'द्रविड़' नहीं! आज कल तो 'द्रविड़' शब्द इसी तरह लिया जाता है; जैसे गुर्जर, उत्कल आदि। एक पंजाबी जन पंजाबी भी है, आर्य या हिन्दू भी। यही स्थिति सब की है।

मतलब यह कि आर्य चाहे बाहर कहीं से आए हों और चाहे यहीं के मूल निवासी हों, वे द्रविड़ों में और द्रविड़ उनमें घुल-मिल गए; यद्यपि उनकी भाषा प्रकृतितः कुछ भिन्न आज भी है। संस्कृत ने सब भाषाओं में एक-सूत्रता ला दी है।

यहाँ हमें एक बात प्रसंग से कह देनी है। वह यह कि आर्य और अनार्य (पारसी) पुरखों में जो एक बड़े युग तक संग्राम चलता रहा, उसका सुविस्तृत उल्लेख 'देवासुर-संग्राम' के नाम से वेदों में तथा पुराणों में हुआ है। परन्तु 'आर्य-द्रविड़' संघर्ष या संग्राम की चर्चा कहीं नहीं मिलती! क्या कारण है? क्या संघर्ष हुआ ही नहीं? एक जाति बाहर से आए और पहले बसी हुई जाति को पीछे धकेल कर समुद्र तक ले जाए और उसका कहीं आभास भी पुराने ग्रन्थों में न मिले, बड़े आश्चर्य की बात है। इससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि संघर्ष हुआ ही न हो!

जब इस देश में आर्य जम-बस गए और आर्य-साम्राज्य स्थापित हो गए, तब भी कोई संघर्ष नहीं! जब राम जी दक्षिण भारत होकर लंका विजय करने गए, तब भी कोई संघर्ष नहीं! द्रविड़ जन कुछ तो छेड़-छाड़ करते! यह क्या बात है कि एकदम कहीं कोई चर्चा नहीं? यह विजातीयता का लक्षण तो नहीं है!

राम जब उधर गए, तो निःसन्देह एक दूसरी स्थिति थी। 'उत्तरापथ' और 'दक्षिणापथ' शब्द प्रसिद्ध हैं। दक्षिण-प्रदेश 'दक्षिणपथ' कहलाता था। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच में बहुत बड़ा घना जंगल था। आज का 'मध्य प्रदेश' जहाँ है, वहाँ भयंकर जंगल था। इस जंगल में कोल-भील आदि वन्य जन रहते थे। उत्तर भारत के साहसी और समाज-सुधार के प्रेमी महान् ऋषि जन अपने परिवारों के साथ इन भीषण वनों में जा बसते थे और वन्य जनों को सीधे रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते थे। वन्य जन इधर-उधर की आर्य-बस्तियों में लूट-पाट करते रहते थे। ऋषि जनों के प्रभाव में आकर सुधर भी जाते थे। जब राम जी बन गए, तो इन लोगों ने कहा—'लेहिं न बासन-बसन चुराई, इहै हमारि बड़ी सेवकाई'—आपका लटा-पटा हम नहीं चुरा लेते, यही हमारी बड़ी सेवा है! यह ऋषि जनों का प्रभाव था। 'शबर' नाम की भी एक वन्य जाति थी! इन पर भी ऋषियों का प्रभाव पड़ा था। एक वृद्ध शबरी ने राम का कैसा आतिथ्य किया था और राम ने भी उसे किस प्रेम से ग्रहण किया था; सब जानते हैं। इस तरह उन वन्य जातियों को मानव-संस्कृति में ऋषि जन ला रहे थे; यद्यपि वे समय-समय पर बड़े-बड़े खतरे भी उठाते थे।

ऋषियों को ये खतरे वन्य जातियों से वैसे नहीं आते थे, जैसे कि राक्षसों से। समुद्र पार लंका नाम का एक बहुत बड़ा राष्ट्र उस समय था। वहाँ 'रक्ष-संस्कृति' थी। 'रक्ष' का अर्थ यही है कि रक्षा करने वाले, केवल आत्म-रक्षा करने वाले, यानी जो दूसरों पर आक्रमण न करें। 'रक्षस्' तथा 'राक्षस' भी कहलाते थे। परन्तु—ये लोग दूसरों पर आक्रमण किया करते थे। आज कल भी एक शब्द चल रहा है। सैनिक शक्ति को

'डिफेंस' अंग्रेजी में कहते हैं—आत्म रक्षा का साधन! परन्तु आक्रमण दूसरों पर कैसे-कैसे होते हैं, हो रहे हैं, सामने हुए हैं; सो भी देखिए! फिर भी 'डिफेंस' है! 'इस्लाम' का अर्थ भी 'शान्ति' है न! इसी तरह 'रक्ष संस्कृति' थी। राक्षस जन समुद्र पार आकर भारतीय आर्य-साम्राज्य को अपने अधीन करने के मंसूबे बाँध कर उद्योग करते थे। वे लोग द्रविड़ों को नहीं छेड़ते थे। द्रविड़ों और लंका वासियों की संस्कृति मिलती-जुलती अब भी है और लंका में अब भी तमलि लोग काफी संख्या में बसे हुए हैं। बहुत संभव है कि लंका से ही कुछ शान्तिप्रिय लोग इधर आ बसे हों और इसी लिए इन (द्रविड़ जनों) को राक्षस लोग उदासीन दृष्टि से देखते हों। पुराणों में कहीं भी उल्लेख नहीं कि दक्षिण के साथ शेष भारत का संघर्ष कहीं हुआ सुना नहीं कि द्रविड़ों ने (शेष) भारतीयों को सताया।

हाँ, तो लंका के चतुर और साहसी राक्षस इधर आकर बस जाते थे। बीच के वन्य प्रदेशों को जैसे ऋषि जन प्रभावित करते थे, उसी तरह ये लंकावासी (और भारतप्रवासी) राक्षस अपने कब्जे में लाने का उद्योग कर रहे थे। बीच का इतना बड़ा प्रदेश अधीन-प्रभावित कर लेने पर फिर उत्तर भारत सर करना तो बहुत सरल था। नासिक के इधर-उधर तो लंका के बड़े अधिकारी खर-दूषण ने अपने पाँव अच्छी तरह जमा लिए थे। वहीं से वे कार्य-संचालन करते थे। इन की स्त्रियाँ भी साहसी थीं, काम करती थीं। राक्षस लोग यक्ष जाति से विवाह आदि भी करते थे। यह भी एक बड़ा षड्यन्त्र था। अयोध्या से कुछ ही पूर्व एक यक्ष-जनपद था। वहाँ का शासक एक यक्ष था। उसने अपनी लड़की 'ताटका' का विवाह एक प्रभावशाली राक्षस से कर दिया था, जिससे 'मारीच' नाम के राक्षस का जन्म

हुआ। मारीच में कुछ यक्ष-(भारतीय) रक्त का भी जोर था और इसी लिए इसने वैसी प्रवृत्ति पाई थी। रावण को इसने बहुत समझाया बुझाया था; परन्तु था तो राक्षस ही! खून का बड़ा असर होता है। उस यक्ष-प्रदेश का शासक यही मारीच होता और इसका लड़का पूरा राक्षस होता। परन्तु विश्वामित्र ने पहले यही काँटा निकाला। ताटका को समाप्त करा दिया और मारीच जान बचा भागा! नासिक पहुँच कर राक्षस-मण्डल में मिल गया! काम भी किया, जब तक 'काम तमाम' राम ने कर दिया।

दक्षिण प्रदेश एकदम तटस्थ था! तभी बचा रहा, नहीं तो राक्षस लोग पीस डालते। द्रविड़ प्रदेश से पश्चिम कुछ दूसरे जनपद थे, जहाँ 'हरि-संस्कृति' और ऋक्ष-संस्कृति' थी। आज के महाराष्ट्र तथा सौराष्ट्र समझिए। ऐसा जान पड़ता है कि 'ऋक्ष' नाम की प्रतिद्वन्दिता में 'हरि' नाम रखा गया। 'सौराष्ट्र' 'महाराष्ट्र' नए नाम भी इसी तरह के जान पड़ते हैं। नक्षत्रों को 'ऋक्ष' कहते हैं। लंका के लोग प्रायः कृष्ण-वर्ण होते हैं और द्रविड़ भी प्रायः इसी रंग के। मराठों का रंग वैसा नहीं होता, कुछ गेहुँआ सा होता है। कदाचित् इसी वर्ण-दृष्टि से इन लोगों ने अपने को 'ऋक्ष' (नक्षत्र) कहना शुरू किया हो। इस पर पड़ोसी लोगों ने अपने को 'हरि' कहना शुरू किया होगा। सूर्य-चन्द्र का नाम 'हरि' भी है। संस्कृत में 'ऋक्ष' और 'हरि' नाम रीछों के और बन्दरों के भी हैं। बाद में–या दूर के–लोगों ने इन दोनों शब्दों का गलत अर्थ समझा। भ्रम बढ़ा। इसी का परिणाम है नए नामों की कल्पना–महाराष्ट्र, सौराष्ट्र। जब हरि-प्रदेश और ऋक्ष-प्रदेश सुविस्तृत शेष आर्य-प्रदेश से मिल कर एक हो गए, तो 'महाराष्ट्र'-'सौराष्ट्र' नाम ठीक ही हुए। राष्ट्र से महाराष्ट्र। बहुत दिन बाद कहीं से गुर्जर और

जाट आए और बस गए, ऐसा लोग कहते हैं। ये पर्वतीय जन थे। गुर्जर लोग आगे बढ़े और 'गुजरात' बनाया।

इन 'ऋक्ष' और 'हरि' प्रदेशों पर भी राक्षस लोग आक्रमण करते रहते थे। अंगद-रावण संवाद में भी इसका जिक्र आया है। महाबली बाली ने रावण को खूब छकाया था। समय आया, जब राम जी के नेतृत्व में ऋक्षों ने और हरि जनों ने सदा के लिये काँटा दूर कर दिया। हरि-नरेश सुग्रीव और महान् हरि-सेनापति अंगद-हनुमान ने युद्ध-कौशल दिखाया, तो ऋक्ष इंजीनियरों ने अपनी कला का कौशल प्रकट किया। परन्तु लंका देश से बैर नहीं, उस व्यक्ति को मिटा दिया, उस का प्रभुत्व समाप्त कर दिया, जो बड़े बड़े सपने देख कर संसार को तंग कर रहा था। उसके भाई को ही वहाँ का 'सर्वप्रभुता-सम्पन्न' शासक बना कर सदा के लिए मैत्री स्थापित कर दी। परन्तु हमारा यह देश सीता-हरण के उस अपमान को नहीं भूला और प्रति वर्ष हम—ब्राह्मण लोग—रावण के पुतले में आग लगा कर अपनी भावना प्रकट करते हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि लंका में भी प्रायः वही संस्कृति उस समय थी, जो कि भारत में, आर्य-जाति में। लंका में भी वर्ण-व्यवस्था थी। रावण भी ब्राह्मण था और वेदों का मार्मिक व्याख्याता था, शिव-उपासक था। जब लंका में वेद-प्रतिष्ठा और चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था थी, तो भारत के द्रविड़ों में भी जरूर रही होगी। ऋक्ष तथा हरि जनों में भी व्यवस्था थी। उस समय संस्कृत अन्तर-राष्ट्रीय भाषा थी, जैसे आज कल अंग्रेजी है। परन्तु—अंग्रेजी की तरह—देश-देशान्तरों के एक विशिष्ट वर्ग में ही संस्कृत का पठन-पाठन था। साधारण जनों की प्रादेशिक भाषाएँ अपनी थीं। संस्कृत के अतिरिक्त, देश की एक कोई

जन-भाषा भी ऐसी थी, जिसे देश भर के लोग समझते-बोलते थे। इसे साधारणतः 'जन-भाषा' या 'मानुषी भाषा' कहते थे। संस्कृत 'देवभाषा' कहलाती थी, जैसे अंग्रेजी 'जेंटिल मैन'—भाषा। विशिष्ट जन 'द्विजाति' कहलाते थे—सुसंस्कृत जन। जब लंका पहुँच कर छिपे-छिपे सीता से बात-चीत करने की इच्छा हनुमान् ने की, तो भाषा की समस्या सामने आई। हनुमान की हरि-भाषा सीता जी न समझ सकेंगी, यह निश्चय था। साथ ही न हुआ था। हनुमान जी अपनी भाषा के अतिरिक्त, देवभाषा तथा भारतीय जनभाषा भी जानते थे। उन्होंने सोचा कि संस्कृत में बात करना ठीक नहीं; क्योंकि—

'रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति'

सीता समझेंगी कि यह रावण संस्कृत में बोल रहा है और वे डर जाएँगी। रावण भारत की जनभाषा से परिचित न था और इस लिए अन्तर-राष्ट्रीय (संस्कृत) भाषा में भारतीयों से बात करता था। भारत की उच्चकुलीन स्त्रियाँ संस्कृत से अभिज्ञ होती थीं। परन्तु हनुमान ने संस्कृत में वार्तालाप करना उचित न समझा और फिर 'मानुषं वाक्यम्' का माध्यम अपनाया।

निःसन्देह उस समय द्रविड़ों में भी वेद-सम्मान तथा वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा रही होगी। आज भी वेदों का विधिवत् सस्वर पाठ जैसा दाक्षिणात्य करते हैं, वैसा अन्यत्र कहीं भी सुनने में नहीं आता। बौद्ध मत ने जब भारत में वैदिक धर्म और वर्णव्यवस्था की कमर तोड़ दी, तब दक्षिण प्रदेश सामने आया और शेष सम्पूर्ण भारत का गुरु बना। शंकर, विष्णुस्वामी निम्बार्क रामानुज आदि आधुनिक युग के प्रायः सभी धर्माचार्य दाक्षिणात्य थे। इस तरह दक्षिण भारत ने देश से आनृण्य प्राप्त किया—इधर से उधर जो कुछ कभी दिया गया था,

उसका भरपूर बदला चुका दिया। देश ने दक्षिण भारत का गुरुत्व स्वीकार किया। श्री शंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित मठ-मन्दिरों में अब तक दाक्षिणात्य ब्राह्मण ही पूजा-अर्चा करते हैं। वृन्दावन के श्रीरंग-मन्दिर के पुजारी भी दाक्षिणात्य (रामानुजीय वैष्णव) ब्राह्मण ही होते हैं। द्रविड़ों में भी ब्राह्मणों के पाँच अवान्तर भेद उसी तरह हैं, जैसे उत्तर भारत में। 'पञ्च गौड़' और 'पञ्च द्रविड़' प्रसिद्ध हैं। संस्कृत साहित्य के प्रौढ़तम विद्वान् जैसे दाक्षिणात्यों में हुए हैं, वैसे शेष भारत में अन्यत्र कहीं भी नहीं और उतने नहीं। आज भी यही स्थिति है।

परन्तु एक विचित्र बात है। इधर शेष भारत के आधुनिक किसी भी धर्माचार्य का प्रभाव दक्षिण भारत पर नहीं पड़ा! कबीर, नानक आदि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ थे; इस लिए उधर प्रभाव न पड़ा होगा। महाराष्ट्र और गुजरात के सन्त भी साधारण जन-भाषा में ही उपदेश देते थे। बंगाल के कृष्ण चैतन्य देव आदि वैष्णव- आचार्य अवश्य संस्कृत का माध्यम रखते थे; पर इनकी भी पहुँच दक्षिण भारत में न हुई! समझा होगा कि जो वैष्णव धर्म दक्षिण से ही उधर गया, उसी की एक नई शाखा को यहाँ लाने की क्या जरूरत! आधुनिक 'आर्य-समाज' आदि से भी दक्षिण भारत प्रभावित न हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के विद्वान् थे, वेदों के व्याख्याता थे; परन्तु दक्षिण भारत में जो गम्भीर पाण्डित्य है, वह कुछ और चीज है। सम्भव है, इसी का अभिमान हो कि वहाँ किसी दाक्षिणात्येतर का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

अपने-अपने अन्दाजे

आर्यों और द्रविड़ों के बारे में विद्वानों के भिन्न-भिन्न अनुमान-मत हैं। पहले कह आए हैं कि कुछ लोगों का मत यह है

कि आर्य जन मूलतः यहीं के निवासी हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उत्तर की ओर से, कहीं से, आर्य लोग 'काकेसस' के रास्ते भारत में आए। बड़े-बड़े काफलों में एक के बाद एक प्रवाह आता रहा और पूर्वागत आर्य्यों को आगे धकेल कर उनकी जगह बसता चला गया। आगे धकेले हुए आर्य जन अपनी बस्ती के लिए यहाँ के मूल निवासियों को आगे धकेलते रहे। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यहाँ के मूल निवासी द्रविड़ हैं, जिन्हें धकेलते-धकेलते आर्यों ने समुद्र-तट तक पहुँचा दिया; पर समुद्र में डुबाया नहीं, न समूल उच्छेद किया।

परन्तु—जैसा कि हम पहले कह आए हैं—आर्य-द्रविड़ संघर्ष का कोई उल्लेख-संकेत हमें कहीं मिलता नहीं है। उलटे, सौहार्द के लक्षण दिखाई देते हैं। तब हम वैसे राजनैतिक या सांस्कृतिक संघर्ष की कल्पना को कैसे हृदय में बसा लें ? हम तो देखते हैं कि द्रविड़ों ने आर्य-संस्कृति की बहुत सी बातें स्वेच्छया ग्रहण करली थीं। हरि और ऋक्ष जन भी आर्य-संस्कृति से प्रभावित थे। सम्भव है, यह सब अगस्त्य आदि ऋषियों के सांस्कृतिक मिशन का फल हो ! लंका तक आर्य-संकृति पहुँच गई थी; यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से संघर्ष चल रहा था। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आर्य-द्रविड़ संघर्ष की कल्पना पाश्चात्य विद्वानों ने किसी विशेष उद्देश्य से पैदा की और उसे हमारे सिर थोप दिया।

असली चीज कुछ और जान पड़ती है। आर्य जन चाहे यहीं के मूल निवासी हों और चाहे बाहर से आए हों; पर वे चारो ओर फैले; इसमें सन्देह नहीं। कभी-कभी एक ही जाति में संस्कृत-असंस्कृत वर्ग बन जाते हैं। आज भी निरक्षर और असंस्कृत जनता की अपेक्षा शिष्ट-संस्कृत वर्ग अपने को कुछ

भिन्न समझता है और बहुत से शिष्ट-संस्कृत जन ऐसी अलग बस्ती बना कर रहना पसन्द करते हैं, जहाँ वैसे (साधारण या निम्न श्रेणी के) किसी भी व्यक्ति का कोई झोपड़ा न हो! इन बेचारों की बस्ती अलग पड़ जाती है। सम्भव है, भारत के मूल निवासियों में ही आर्य (शिष्ट) तथा वन्य (कोल-भील आदि) के दो भाग हो गए हों। जैसे-जैसे सांस्कृतिक विकास के कारण नगर बसते गए हों, वैसे ही वैसे वन और वन्य जन उधर हटते गए हों। हमारा आग्रह यहाँ यह नहीं है कि आर्य जन मूलतः यहीं के निवासी ही हैं; बाहर से आए ही नहीं। परन्तु एक सम्भावना भर दी है कि ऐसा भी हो सकता है। आर्य चारों ओर फैले!

उधर हरि तथा ऋक्ष नाम की जातियाँ जो बसती थीं और जिनका सामाजिक विकास भी स्वतंत्र रीति से होकर राज-व्यवस्था आदि सब कुछ अपना था, उनके बारे में भी वही कुछ कहा जा सकता है, जो कि आर्यों के एक भाग के बारे में ऊपर कहा गया है। सम्भव है, वन्य वर्ग के ही ये दो बड़े भाग सुसंस्कृत हो कर इन दो नई जातियों के रूप में आगए हों। आर्यों की संस्कृति भी, कुछ हेर-फेर के साथ उस समय के हरि और ऋक्ष जनों में दिखाई देती है, जब कि हम रामायण आदि देखते हैं।

हरि तथा ऋक्ष जनों के प्रदेशों से पूर्व एक भिन्न प्रकृति के जन-पद अवस्थित हुए। इन्हीं को इतिहासकार सामान्यतः 'द्रविड़' कहते हैं। सम्पूर्ण भारत की आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं से द्रविड़ भाषाओं की प्रकृति भिन्न है; परन्तु संस्कृत के कारण वे एक दम हमारे समीप हैं। इस भाषा-भेद के कारण लोगों ने आर्यों में और द्रविड़ों में भेद किया और कल्पना की यह कि

द्रविड़ यहाँ के मूल निवासी हैं और आर्य बाहर से आए। आकर इन्हें खदेड़ते-रगेड़ते समुद्र-तट तक ठेल ले गए! इस कल्पना का कोई आधार नहीं है।

ऐसा जान पड़ता है कि कुछ लोग दूर-दूर से इस ओर आए–समुद्री मार्ग से। भाषाविज्ञान वाले कहते हैं कि द्रविड़ भाषाओं में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो आस्ट्रेलिया तक की भाषा में पाए जाते हैं! सम्भव है, वहीं से साहसी लोगों के काफले चले हों और उन में से कुछ लंका में बस गए हों, कुछ समुद्र पार आ कर इस देश में बस गए हों। ये ही द्रविड़ हैं। द्रविड़ लोग लंका की अपेक्षा भारत के इस दक्षिणी अंचल पर अधिक सुख का अनुभव करते थे। अपनी स्वतन्त्र बस्तियां बना ली थीं और समाजिक जीवन का विकास कर रहे थे। लंका में भी द्रविड़ बसे हुए थे; इस परिचय या आत्मीयता के कारण लंका के राक्षस इन्हें सताते-छेड़ते न थे। यह भी ख्याल होगा कि ये तो हमारे समीप ही हैं, चाहे जैसे अधिकार में किए जा सकते हैं। सम्भव है, यह सोचा हो कि ये लोग अपने ही हैं और जरूरत पड़ने पर भारत के विरुद्ध इन से काम लिया जा सकता है। उस समय राजनीति की ऐसी बातें चलती रहती थीं। राम जी तो पिता की आज्ञा से बन गए थे, निर्वासित होकर; परन्तु राजनीतिज्ञ राक्षसों ने समझा कि यह एक चाल है! पिता ने एक चाल चली है और वन में राक्षसों की गति-विधि समाप्त कर के लंका की ओर राजनैतिक नजर की जाने का उपक्रम है। इसी लिए खर-दूषण ने अपनी बहन (शूर्पणखा) को भेज दिया था कि जा कर विवाह कर लो और सब भेद जाकर ले आओ। राम जी भी सब समझते थे। लक्ष्मण ने नाक-कान काट कर एक चेलेंज भी दे दिया था। स्त्री को—जहाँ तक हो सके-मारना न

चाहिए बस आर्य-विधि थी। रावण ने इस चेलेंज को स्वीकार कर लिया और सीता को ले जाकर एक जगह कैद कर दिया। चेलेंज था कि हिम्मत हो तो ले जाओ। और कोई बात न थी। प्रतिपक्षी को लोक-दृष्टि में गिरा कर भी अपने पक्ष में समर्थन लिया जाता है। वैसा ही कुछ हुआ होगा, वैसा ही लिखा गया और उसी के आधार पर रावण-दाह यहाँ होने लगा।

खैर, मतलब यह है कि द्रविड़ जनों को लंका के राक्षस न छेड़ते थे; यद्यपि हरि तथा ऋक्ष जन सताए जाते थे। ये भारत के मूल निवासी समझ कर ही सताए जाते होंगे कि यदि भारत से युद्ध हुआ, तो ये लोग अपनों का ही साथ देंगे। इन दोनों उप-जातियों पर पहले अधिकार जमाकर, तब शेष भारत को छेड़ने का विचार होगा।

परन्तु बीच के घने सुविस्तृत जंगलों में वन्य (शबर, कोल, भील, आदि) भी रहते थे। यद्यपि सुसंस्कृत आर्य जनों से ये दूर पड़ गए थे, बुरा भी मानते थे, लूट-मार भी करते थे; परन्तु फिर भी अपनापन निभाते थे। राक्षस लोग इन्हें अपनी ओर करना चाहते थे—उद्योग कर रहे थे; प्रत्येक वन में अपने शिविर बना रखे थे। उधर भारतीय ऋषि जन भी इन्हें सुशिक्षित कर के सभ्य नागरिक बनाने का उद्योग कर रहे थे। इसी बीच राम जी वन पहुँच गए!

जब राम जी वन को चले, तो लोगों ने समझाया कि दक्षिण के वनों में मत जाइए! राक्षसों के उपद्रव के कारण दक्षिण दिशा को लोग 'मृत्यु की दिशा' कहने लगे थे! कहते थे उधर मुँह मत करो, उधर की ओर पाँव मत बढ़ाओ!

परन्तु खतरे से कब तक और कहां तक डरा जाए? खतरे को दूर करना ही अच्छा। 'निसिचर - निकर नारि नर चोरा!'

राम जानते थे कि राक्षस लोग वन में आर्य स्त्री-पुरुषों का अपहरण कर लेजाते हैं। सीता जी साथ थीं। फिर भी, वे दक्षिण की ओर मुड़े! प्रयाग से कुछ आगे चित्रकूट है। यहाँ का वन कम खतरे का था। जहाँ आजकल कटनी-जबलपुर-सागर-इटारसी आदि हैं, वहाँ भयंकर वन था। यहीं के वनवासियों में आर्य ऋषि तथा राक्षस जन अपना-अपना काम करते थे। जब राम चित्रकूट पहुँच कर कुछ दिन टिके, तो राक्षसों के उपद्रव बढ़ गए और कुछ ऋषियों ने राम जी से कहा कि जब से आप आए हैं, तब से राक्षसों के उपद्रव यहां बढ़ गए हैं; इस लिए हम अब अन्यत्र कहीं जाकर बसेंगे। ऐसे लोग सपरिवार चले गए थे; परन्तु साहसी ऋषि वहीं बने रहे थे। कुछ दिन बाद राम जी और आगे बढ़ गए और होते-होते (खंडवा-भुसावल आदि के भूभाग से) पंचवटी–नासिक के क्षेत्र में जा पहुँचे, जो कि राक्षस-मण्डल का प्रमुख केन्द्र था। फिर वह सब कुछ हुआ, जिस का वर्णन रामायण आदि में है।

राम जी ने वन-वासियों से मित्रता की, ऋक्ष तथा हरि लोगों को मिला कर लंका पर चढ़ाई की। लंका पर अधिकार न करके वहाँ के राक्षसों को भी मित्र बना लिया। सम्पूर्ण भारत में एकता हुई–एक संस्कृति। द्रविड़ भी मिल गए; यद्यपि भाषा उनकी आज तक अपनी ही है। न ऋक्ष संस्कृति, न हरि-संस्कृति, न द्रविड़ या आर्य-संस्कृति; सब मिल कर एक। सब 'हिन्दू'। यों एक सुविशाल हिन्दू जाति का निर्माण हुआ; यद्यपि 'हिन्दू' नाम बाद में मिला। एक चीज बन गई नाम तो बनते-बदलते रहते हैं। राम का यह काम इतना बड़ा समझा गया कि सम्पूर्ण देश ने उनके आगे सिर झुकाया और आज भी आप चाहे जहाँ–'जय राम जी की' — सुन सकते हैं। सर्वत्र राम की वन्दना है।

आर्य, द्रविड़, हरि, ऋक्ष और कोल-भील ही नहीं, पुराने समय के यक्ष, गन्धर्व, नाग आदि ने भी (राष्ट्रीयता के सूत्र में स्वेच्छया आबद्ध होकर) इस महान् हिन्दू जाति का निर्माण किया; यद्यपि अपनी-अपनी उपासना तथा प्रादेशिक या वर्गीय रीति-रिवाज आदि पृथक् भी बनाए रहे।

संसार में एक-एक लाख की आबादी के भी राष्ट्र हैं और इस से भी कम के! भारतवर्ष एक ऐसा महान् राष्ट्र है, जिस का निर्माण प्राचीन काल में विभिन्न न जाने कितने तत्त्वों से हुआ है! शासन तथा मत-सम्प्रदाय की दृष्टि से पृथक्-पृथक् वे सब तत्त्व सांस्कृतिक दृष्टि से एक हो गए। यों एक 'महाजाति' या 'ग्रांड नेशन' का निर्माण हुआ। कदाचित् यही सोच कर भारतीय स्वातंत्र्य के प्रतिष्ठापक श्री सुभाषचन्द्र बोस ने उस राष्ट्रीय भवन का नाम 'महाजाति-सदन' रखा था, जो कि आज भी तदवस्थ रूप में खड़ा रो रहा है —श्री सुभाष चन्द्र बोस के वियोग में तड़प रहा है!

यक्ष, ऋक्ष, हरि आदि की तरह नाग आदि अन्य जनों के भी प्रदेश थे, शासन थे। 'नाग' का अर्थ है-'पहाड़ी'। 'नग' माने पहाड़, वहाँ के लोग 'नाग'। नाग-कन्याओं की सुन्दरता का जो वर्णन है, उसे आप आज भी पर्वतीय प्रदेशों में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। नाग जन भी सुविशाल महाजाति में घुल-मिल गए।

'नाग' से 'नागा' भिन्न हैं। 'नागा' शब्द 'नग्न' से निष्पन्न है। 'नंगा' विशेषण है और 'नागा' एक समुदाय का वाचक है। जंगल में, पहाड़ों पर रह कर वैसा ही जीवन बिताते हैं—नग्न या अर्द्ध-नग्न अवस्था में रहते हैं, वे 'नागा'। भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर नागा-आबादी है। अब नागा-प्रदेश

में प्राचीन काल का वह वन्य जीवन भी है, जिसकी कथाएँ हम पुराणों में पढ़ते हैं और साथ ही कुछ लोग वहाँ इतने शिक्षित भी हो गए हैं कि किसी भी सभ्य समाज में आसन पाने के अधिकारी हैं। अपने उस कदीमी रहन-सहन और रीति-रिवाज को ये गर्व के साथ अपनाए हुए हैं और इसी लिए शेष भारतीय जाति से पृथक् दिखाई देते हैं। परन्तु कभी न कभी ये भी सुसंस्कृत भारतीय बन जाएँगे।

(३)

शक-हूण आदि

हम पिछले परिच्छेद में कह आए हैं कि सांस्कृतिक एकता से एक महान् जाति का निर्माण कैसे हुआ ! कहने को यह इतनी जल्दी कह दिया गया और आप दस मिनट में ही वह सब पढ़ गये होंगे; परन्तु वह उतना बड़ा और वैसा महत्त्व-पूर्ण काम सैकड़ों वर्षों में नहीं, हजारों वर्षों में जा कर पूरा हुआ होगा। किसी संस्कृति का निर्माण होने में और उसका उस तरह स्वेच्छा-प्रसार होने में समय लगता है।

एक जाति में सब तरह के मत और वर्ग रहते हैं; यह सब जानते हैं। शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से अनेक जगह बिखरे हुए लोगों में भी सांस्कृतिक एकता रहती है, रह सकती है। लंका में राक्षस-राज्य और दक्षिण में द्रविड़-राज्य, उधर हरि-राज्य और ऋक्ष-राज्य, कहीं यक्ष-राज्य, और कहीं नाग- राज्य। इधर उत्तर भारत में सूर्यवंशीय और चन्द्रवंशीय क्षत्रिय-राज्य। यों एक संस्कृति और एक जाति बन जाने पर भी शासनिक एकता न थी। कभी-कभी एक दूसरे पर चढ़ाई भी कर देते थे। कभी कोई पराक्रमी बहुत से राज्यों पर अपना अधिकार जमा कर छोटा-मोटा साम्राज्य बना लेता था। इस तरह तलवार के जोर से बनाए हुए साम्राज्य कभी छिन्न-भिन्न भी हो जाते थे। ऐसी स्थिति में बाहरी आक्रमण संभावित ही हैं। लोगों ने आक्रमण किए। शक-हूण आदि न जाने कितनी बाहरी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किए। संगठित मुकाबला न हो सकने के कारण

वे घुस आए और बहुतों ने यहाँ बहुत दिनों तक शासन किया। चूंकि यहाँ कोई एक ही मजहब रखने की कट्टरता न थी—मजहबीपन न था - सब लोग स्वतंत्रता से चाहे जो मत मानते थे, या नहीं मानते थे; इस लिए कोई साम्प्रदायिक संघर्ष न हुआ। बाहर से विजेता के रूप में समय समय पर आए हुए शक-हूण आदि इसी हिन्दू जाति में खप-मिल गए। कोई क्षत्रिय, कोई ब्राह्मण, कोई वैश्य और कोई लुहार–बढ़ई आदि बन गए। उन्हें किसी ने कभी शुद्ध' कर के किसी वैदिक या अवैदिक सम्प्रदाय में नहीं मिलाया; वे स्वयं मिल गए। कितने ही विदेशी शासक यहाँ के 'भागवत' सम्प्रदाय में मिल गए थे। प्राप्त शिलालेखों में उनके लिए 'महाभागवत' विशेषण बड़े ही गर्व से दिया मिलता है। आगे चल कर तो यह भी सब भूल गए कि हमारे पुरखे शक थे, या हूण! सब हिन्दू—न कोई शक है न हूण।

अमरीकी 'नेशन' बने अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं; इस लिए वहाँ के लोगों को मालूम है कि हम अंग्रेज पुरखों के वंशज हैं या स्पेन, जर्मन इटली; फ्रांस आदि के रक्त से हैं। यह जानते हुए भी अपनी नई जाति का उन्हें अभिमान है; यद्यपि अंग्रेजी नस्ल की प्रमुखता के कारण वहाँ अंग्रेजी भाषा और कुछ अंग्रेजियत की छाप है। यह सब को स्वीकार है। फ्रांस, स्पेन, या इटली आदि की नस्लें यह नहीं कहतीं कि हमारी (फ्रांस आदि की) भाषाएँ भी यहां चलनीं चाहिए। उन सबने एक पृथक् जातीयता या राष्ट्रीयता का निर्माण कर लिया है। कालान्तर में लोग भूल जाएँगे कि हम किस (दूसरे) देश के वंशज हैं। वैसा कहना -समझना उन्हें सह्य भी शायद न होगा। परन्तु वहाँ के मूल निवासी (नीग्रो) लोगों को वे आज भी पृथक् समझते हैं और शायद बहुत दिनों तक समझते रहें। हमारे देश में वैसा या

उतना भेद-भाव कभी नहीं रहा। रामायण आदि की कथाओं से भी स्पष्ट है। सम्भव है—जैसा कि हम पीछे कह आए हैं—भारत के कोल-भीलों को यहाँ का मूल निवासी कहना और आर्यों को बाहर से आए हुए बतलाना एक भ्रमात्मक कल्पना ही हो और इसी देश के मूल निवासी नागरिक (शिष्ट, आर्य) तथा तदितर (वन्य, जंगली); इन दो भेदों में विभक्त हो गए हों! जो नागरिक बन्धन-व्यवस्था पसंद नहीं करते, वे जंगल में रहेंगे ही और जो वन्य जन संस्कृत होंगे, वे बस्ती बसा कर एक जगह सहयोगपूर्वक रहेंगे ही। बस्तीदारी का जीवन ही संस्कृति-विकास का मूल है। नागरिकता, बस्तीदारी का जीवन, आर्यत्व एक ही चीज है। सो, आदि काल में इस देश के निवासी जीवन-भेद के कारण दो भागों में बँट गए हों; यह आश्चर्य की बात नहीं। इसके विपरीत, यह मान लेने पर भी कि आर्य बाहर से इस देश में आए, स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं। इस देश के तथोक्त मूलनिवासियों के साथ आर्यों ने वैसा हिंसात्मक बर्ताव नहीं किया, जैसा कि अमरीका में आज नीग्रो लोगों के साथ किया जाता है। जो कोल-भील नागरिक-जीवन स्वीकार कर लेते थे, उन्हें सब सिर-माथे लेते थे। सुप्रसिद्ध रानी दुर्गावती एक क्षत्रिय-कन्या थी, जिसने अकबर से लोहा लिया था। उसका विवाह एक गोंड शासक से हुआ था, जिसकी राजधानी जबलपुर के पास (गढ़ा मांडला) थी। गोंड एक वन्य वर्ग, जिसे इतिहासकार भारत का मूल निवासी मानते हैं। गोंड शासक से विवाह-संबन्ध कर देने से किसी ने उस क्षत्रिय शासक का बहिष्कार नहीं किया था! अमरीका में कोई 'शिष्ट' किसी नीग्रो को अपनी लड़की ब्याह दे, तो उसकी दुर्दशा हो जाए!

इसी तरह ब्राह्मण, वैश्य, या अन्य वर्गों में वन्य वर्ग

स्वतः खप जाते थे। इसी लिए ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के, वैश्यों के और अन्य लोगों के वर्ग बहुत-बहुत भेदों में विभक्त हैं। इसी तरह बाहर के लोग (शक-हूण आदि) मिल गए।

यह मिलन अत्यन्त स्वारस्य से हुआ; न कोई जोर-जुल्म, न कोई प्रतिबन्ध ! बात बहुत स्पष्ट और विवाद-रहित है; इस लिए इसे अधिक विस्तार से कहने की जरूरत नहीं। अन्य लोगों ने बहुत विस्तार से सब लिख भी दिया है !

इस प्रकरण को हम भारतीय संस्कृति का 'द्वितीय युग' कहते हैं। बाहर से लोग शासक बन कर, तलवार के जोर से, आए और हमारी संस्कृति में मिल कर पराये न रहे—हम सब एक हो गए।

शक-हूण आदि विजातीय तत्त्वों ने जब भारतीय संस्कृति अपना ली, तब उन के साथ कोई भेद-भाव का बर्ताव नहीं हुआ। परन्तु जो लोग शासक के रूप में आकर विदेशी संस्कृति का ही मोह बनाए रहे, उन (विजातीय या अराष्ट्रीय) तत्त्वों का मिलन कैसे हो ? कोई मनाही न पहले कभी थी, न अब है। फिर भी, हजारों वर्षों से बसे हुए लोगों ने इस देश की संस्कृति नहीं अपनाई; प्रत्युत मजहब के नाम पर इस देश के भी करोड़ों व्यक्तियों को उसी (विदेशी) रंग में रँग दिया और एक सिर-दर्द सदा के लिए पैदा हो गया। इस का वर्णन अगले परिच्छेद में हो गा।

जो वन्य जन लूट-मार छोड़ कर नागरिक बन जाते थे, उन्हें भी बराबर का सम्मान मिलता था। एक लुटेरे भील ने जब, ऋषियों का संग करने से, अपने संस्कार ठीक कर लिए, तो स्वयं ऋषित्व प्राप्त कर लिया। आदि-काव्य (रामायण) के रचयिता महर्षि वाल्मीकि भील ही थे और वन में रह कर लूट-

मार किया करते थे। बाद में उन्होंने कैसा पद प्राप्त किया? द्वापर के वाल्मीकि भंगी थे और उन्हें ऐसा सम्मान मिला कि सभी ऋषि-मुनि फीके पड़ गए! वे काम तो 'अपना' ही करते थे; पर उनका जीवन बहुत ऊँचा था। श्रीकृष्ण ने तब तक युधिष्ठिर का 'राजसूय' यज्ञ पूर्ण घोषित नहीं किया, जब तक ससम्मान वाल्मीकि को आमंत्रित न किया गया। उन्हें राजकुल ले आने के लिए स्वयं अर्जुन को उन (वाल्मीकि) के घर जाना पड़ा था और उन के लिए विशेष रूप से खास द्रौपदी को भोजन बनाना पड़ा था। श्रीकृष्ण का निर्देश ही ऐसा था। वाल्मीकि के पधारने पर ही यज्ञ पूर्ण हुआ' घोषणा श्रीकृष्ण ने की।

जो लोग बन में रह कर लूट-मार करते रहते थे, वे अलग थे ही। उन के भी साधारण समाजिक नियम थे। तीरन्दाज ऐसे थे कि गाण्डीवधारी अर्जुन को भी लूट लिया था! लुटेरों को शस्त्रधारी कौन शासक बनाना पसन्द करे गा? इसी लिए एक बहुत बड़े लुटेरे वर्ग का एक बालक जब बहुत बड़ा तीरन्दाज बन गया, तो उसका अँगूठा कटवा लिया गया था—उसे शक्तिहीन कर दिया गया था।

(४)

मुसलमानों के आक्रमण

राष्ट्र सांस्कृतिक दृष्टि से एक, परन्तु शासनिक दृष्टि से बिखरा हुआ था; यह बात हम पीछे कह आए हैं। कुछ आगे चल कर शासनिक एकता भी आने को हुई, छोटे-छोटे राजाओं पर अंकुश कर के साम्राज्य बनने की स्थिति आई। बहुत दूर तक शासन एक हुआ। परन्तु साथ ही एक नई बीमारी भी घुस आई। बौद्ध मत की 'अहिंसा' का झूठा महत्त्व बढ़ा! अहिंसा-वाद के नाम पर देश में कायरता आगई! लोग तलवार देख कर सिर आगे कर देने लगे—जैसी भेड़ की अहिंसा होती है! सम्राट् अशोक ने जो अहिंसा-व्रत लिया और अपनी सरकार को अहिंसा-प्रचारक मिशन बनाया, तो दूर-दूर तक बात फैल गई। किसी भी अच्छे भाव या काम का नाम लेकर ढोंग फैलता है--फैलाया जाता है। सम्राट् अशोक के अहिंसावाद का भी यही हुआ। आगे चलते-चलते युद्ध-भावना से एकदम वैराग्य हो गया। भय पैदा हो गया, जिसे अहिंसा तथा सहनशीलता का नाम दिया गया। किसी भी वृत्ति के अतिरेक का या अतिशय महत्त्व-ख्यापन का यही परिणाम होता है। किसी समय शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए ऋषियों ने आग की उपासना पर जोर दिया था। 'अग्निमीडे' वेद का प्रथम वाक्य है। ठंढे मत पड़ जाओ। देवासुर संग्राम का समय था। ऋषियों ने अपनी सन्तति को युद्ध-प्रिय बनाया-शत्रुओं का (बाहरी आक्रमण

का) सामना कर के आत्म-रक्षा करने के लिए। आगे चल कर यही भावना विकृत हो गई। लोग आपस में ही लड़ने-मरने लगे। छोटे-छोटे राजा लोग आपस में लड़ते-मरते रहते थे। प्रवाद था—'युद्ध में आमने-सामने कट-कट कर मर जाने से स्वर्ग मिलता है।' प्रजा को यों कटवाते रहते थे—आपस। ईर्ष्या-द्वेष के कारण। प्रजा को पशु समझ रखा था। बड़े-बड़े यज्ञ करते थे, अपना वैभव प्रदर्शित करने के लिए। धर्म के नाम पर पशु-संहार होता था। ऐसे समय में बुद्ध भगवान् पैदा हुए और उन्हों ने अहिंसावाद का प्रचार किया। बुद्ध स्वयं राज-कुमार थे और सब कुछ छोड़ आए थे, इस लिए बड़ा नाम था, बड़ी प्रतिष्ठा थी। नेपाल की तराई से लेकर इधर भारत के बड़े भू-भाग में छोटे-छोटे गणराज्य क्षत्रियों के थे। ये आपस में लड़ा करते ये। परन्तु बुद्ध भगवान् की सब इज्जत करते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा'। राज-सम्मान जिसे प्राप्त हो, उसे प्रजा मानती ही है; फिर भगवान बुद्ध तो सर्वस्वत्यागी महात्मा थे। राजा-प्रजा सब उन की वन्दना करते थे। उस समय अहिंसावाद की जरूरत थी। उसी पर बुद्ध ने सब से ज्यादा जोर दिया। कहाँ तक अहिंसावाद की सीमा है, कब तलवार पकड़ना धर्म है; इस का जिक्र वे न करते थे। यहीं श्रीकृष्ण के कर्मयोग से भिन्नता आगई। गीता में एकाङ्गिता नहीं है--यथास्थिति बुद्धि का उपयोग करने का उपदेश है। खैर, भगवान बुद्ध अपने मार्ग पर बढ़े। उन्हों ने ऐहिक सुख-भोग छोड़ देने का भी उपदेश दिया, जब कि गीता में नियंत्रित और सन्तुलित सुख-भोग का उपदेश है। इस एकाङ्गिता का जो परिणाम हुआ, उसकी चर्चा अभी की जाएगी। यहाँ इतना समझ लीजिए कि बुद्ध भगवान् के सामने ही, उन के परम प्रिय शिष्य,

उन गणराज्यों के शासक आपस में लड़ते मरते थे—प्रजा को, सेना को गाजर-मूली की तरह कटवाते रहते थे। बुद्ध को मानते थे, उनकी अहिंसा के गीत गाते थे और व्यवहार में ऐसे थे। दूर क्यों जाते हैं, महात्मा गान्धी के युग में तो हम सब जी ही रहे हैं। उनके 'सत्य' तथा 'अहिंसा' के सिद्धान्त इस देश में कितने चले? उनके सामने ही क्या दशा थी देश की? वह सब उन के अन्तिम भाषणों में मौजूद है। जन्म भर अहिंसा का प्रचार करके महात्मा जी ने लोगों को मरते-कटते देखा! फिर भी सब 'महात्मा गान्धी की जय' बोलते रहे। उनकी मान्यता में कमी नहीं आई! कैसी स्थिति है! साक्षात् हिंसा उन के सामने आ खड़ी हुई और उस ने भी हाथ जोड़ कर उन्हें प्रणाम किया, उस के बाद अपना काम! इस हिंसा का मुकाबला हिंसा ही कर सकती थी। यदि प्रबन्ध होता, विधि-सम्पन्न शक्ति मुकाबले पर होती, तो वह दुर्घटना कैसे होती? सभी स्थितियों में अहिंसा हिंसा को रोक लेगी, इस दृढ़ मान्यता ने धोखा दिया। सर्वत्र अहिंसा से काम नहीं चलता है। भेड़िया कभी भी अहिंसावाद के आगे सिर न झुकाए गा। एक व्यक्ति की बात और है। भगवान् बुद्ध या महात्मा गान्धी एकान्त अहिंसावाद का पालन कर सकते हैं; परन्तु साधारण जन के लिए वह चीज वैसी नहीं है। राष्ट्र का एकदम अहिंसावादी हो जाना और भी बुरा। भेड़िया तो चाहता है कि भेड़ सदा अहिंसक रहे, आपस में भले ही पैने सींगों का उपयोग उछल-उछल कर करती रहे!

सम्राट् अशोक के बाद अहिंसा के गीत भर रह गए! सम्राट् कनिष्क बौद्ध थे, पर वैसे एकान्त-अहिंसावादी नहीं। अपना साम्राज्य दूर तक फैला लिया था। सम्राट् हर्ष ऐसे अहिंसावादी बौद्ध हुए कि व्यवहार में साक्षात् हिंसा के अवतार। एक

प्रतिक्रिया थी ! जनता बेबस और कायर हो गई।

मौका पा कर विदेशियों ने आक्रमण शुरू किए ! सब से पहला आक्रमण सिन्ध पर 'मुहम्मद बिन कासिम' ने किया। उस समय बौद्ध मत पंजाब और सिन्ध तक ही नहीं, आगे अफगानिस्तान तक पहुँच चुका था। सिन्ध में बौद्ध जनता ही अधिक थी। शासन एक ब्राह्मण के हाथ में था, जिसका नाम 'दाहर' था। दाहर ने बड़ी बहादुरी से आक्रमण का मुकाबला किया और वह उसी युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुआ। उसके कुटुम्ब ने भी अपनी आहुति दे दी। सेना शिथिल हो गई ! जनता अहिंसावादिनी थी ! देश के अन्य शासक तमाशा देखते रहे ! सिन्ध पर विदेशी कब्जा हो गया। इसके बाद उधर से होने वाले किसी भी आक्रमण का मुकाबला सीमान्त में किसी ने नहीं किया ! पंजाब को रौंदते हुए आक्रमणकारी सीधे कुरुक्षेत्र तक बेधड़क चले आते थे और देहली से कुछ दूर रोके जाते थे। जब देहली के समीप तक शत्रु घुस गया, तब मकान में घुसते कितनी देर ! रोकना चाहिए था सुदूर सीमान्त से भी परे ! परन्तु यहाँ तो इस लोक से कोई मतलब ही न था !

अहिंसा, दया और क्षमा का अविचारित अतिरेक तो देखिए--प्रसिद्ध है कि विदेशी आक्रमणकारी कई बार परास्त कर के पृथ्वीराज के सामने कैदी के रूप में उपस्थित किया गया और मूर्ख नरेश ने बार-बार उस आततायी को क्षमा-दान देकर वापस अपने देश चले जाने दिया ! वह समझ गया था इस देश की बुद्धि को, बार-बार आक्रमण करता रहा। जानता था कि छोड़ दिया जाऊँगा और कभी तो विजय होगी ही। पृथ्वीराज तो भगाई हुई कामिनी (संयोगिता) के साथ महल में रँग-रेलियाँ करता था, सेना कटती-मरती थी। हिम्मत टूट गई ! कहाँ तक

मरो-मारो और क्यों ? फल क्या ? शत्रु को फिर छोड़ दिया जाएगा ! बहाने के लिए कुछ गौएँ सामने खड़ी कर दी गईं। सेना को आड़ मिल गई। "हम गोली नहीं चलाएँगे, गौएँ मर जाएँगी।" मुहम्मद गौरी आ धमका, पृथ्वीराज को पकड़ ले गया और आखें निकलवा कर दुर्दशा की। देश हजार वर्ष के लिए पराधीन हो गया !

सामने गौएँ खड़ी कर देने की कथा मन-गढ़न्त जान पड़ती है। वस्तुतः फौजी हार था। गौएँ तो भगाई भी जा सकती थीं—भाग भी सकती थीं। उतनी गौएँ एक ही जगह उस तरह खड़ी कैसे रहीं ? अपनी पराजय-जन्य बेइज्जती को यों कहानी बना कर कम किया गया। यदि घटना सच भी मान ली जाए, तो भी पृथ्वीराज दोषी है। सेना सोच सकती है कि व्यर्थ हो इतनी गौएँ और बाद में इतनी सेना काटने कटवाने से लाभ क्या, जब कि फिर शत्रु को माफ कर देना निश्चित है !

कुछ भी हो, देश पराधीन हुआ। इस पराधीनता में हमारी 'धर्मप्रियता' और 'उदारता' भी कारण है। बाहर वालों ने सुन रखा था कि भारत में साम्प्रदायिकता नहीं है, किसी एक सम्प्रदाय या मत-मजहब से देश बँधा हुआ नहीं है और सभी सम्प्रदायों के सन्त-महात्माओं को वहाँ मान्यता मिलती है। इस वृत्ति का विदेशियों ने लाभ उठाया। कहते हैं, मुहम्मद गौरी के प्रथम आक्रमण से काफी दिन पहले औलिया मुईनुद्दीन चिश्ती नाम के 'पहुँचे हुए' फकीर ने भारत आकर अजमेर में अपना डेरा जमाया। बड़ी मान्यता हुई। चिश्ती साहब साधारण फकीर न थे। इतिहासकार बतलाते हैं कि फिर चिश्ती साहब यहाँ से चले गए थे और मुहम्मद गौरी के प्रथम आक्रमण के समय, उसी के साथ, पुनः भारत आए थे।

इनकी दरगाह अजमेर में बनी है, जहाँ प्रति वर्ष धूमधाम से मेला लगता है और पं० जवाहरलाल नेहरू तक उसके सामने घुटने टेकते हैं! बड़ी मान्यता है। हम यह नहीं कहते कि चिश्ती साहब ने या उनके दल के (देश में बिखरे हुए अन्य फकीरों) ने भेदियेपन का काम किया। वे तो फकीर थे! उन्हें इस दुनियादारी से मतलब क्या! परन्तु तो भी, कुछ लोग कुछ और समझते हैं। इनकी समझ की काट करने को हमारे पास कोई खास तर्क-तलवार नहीं है। रावण ने भी महात्मा बन कर ही धोखा दिया था! कुछ परम्परा ही चली आ रही है। यदि और कुछ न समझा जाए, तो इतना तो निश्चित है कि इन मुसलमान फकीरों ने कुछ 'सांस्कृतिक' काम तो किया ही होगा। यह भी कुछ कम नहीं है!

मजहबी संस्कृति

इस देश पर भिन्न-भिन्न देशों के मुसलमानों ने आक्रमण किए और सफल होकर यहाँ अपनी ही संस्कृति के साथ बस कर राज करते रहे। इन सब देशों की संस्कृति एक नहीं, भिन्न-भिन्न है। अरब, ईरान, अफगानिस्तान आदि की अपनी-अपनी संस्कृति है; यद्यपि अरबों के आक्रमण से परास्त होकर राष्ट्र के राष्ट्र मुसलमान हो गए थे। तो भी तुर्क-संस्कृति, अरब-संस्कृति और ईरानी संस्कृति आदि रहीं, सर्वत्र 'मुस्लिम संस्कृति' नहीं। परन्तु भारतवर्ष में 'मुस्लिम संस्कृति' का निर्माण हुआ—एक मजहबी संस्कृति! इसका कारण है।

इस देश में आकर विदेशी शासक अपनी भाषा तो न भूलते थे; पर यहाँ की भाषा भी उन्हें सीखनी पड़ती थी। कालान्तर में, उनकी सन्तति-प्रसन्तति अपने उन 'मूल' देशों की

भाषा भूल जाती थी। मातृभाषा के रूप में वह न रहती थी, पढ़-लिख कर सीखने से आती थी। इस देश की भाषा स्वतः सब सीख जाते थे! फिर अनेक देशों के मुसलमानों का जमघट हो गया, तो सबको एक भाषा की और अधिक जरूरत। फलतः इस देश की भाषा (हिन्दी) उन्होंने अपना ली; पर उसमें अपने मूल देशों के सांस्कृतिक शब्दों का प्रयोग करते रहे और फारसी लिपि में लिखने लगे; जैसे कि बाद में अंग्रेजों ने इसी भाषा के लिए रोमन लिपि चला कर काम निकाला और 'रोमन हिन्दुस्तानी' नाम दिया। यह हिन्दी का मुसलमानीकरण आगे चल कर 'उर्दू' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जैसे इस देश के लोगों को मुसलमान बना कर उनका रंग-रूप और नाम बदल दिया जाता था, वही स्थिति भाषा की भी हुई। एक ही भाषा के दो रूप हो गए; क्योंकि संस्कृति-भेद था। राष्ट्र ने सामूहिक रूप से इस्लाम ग्रहण न किया, जैसा कि ईरान आदि कर चुके थे और यहाँ आए हुए मुसलमान विजेताओं ने इस देश की संस्कृति ग्रहण न की, जैसे कि शक-हूण आदि कर चुके थे। दो धाराएँ हो गईं। एक को अपने राष्ट्र का बल और दूसरी को शासन का बल! संघर्ष सांस्कृतिक रहा और राष्ट्र ने अपनी संस्कृति छोड़ी नहीं।

'मुंशी'-पण्डित' संघर्ष

शासन ने भारतीयों का एक वर्ग ऐसा बना दिया था, जो राष्ट्र तथा शासन के बीच माध्यम का काम करने लगा था। जो भारतीय फारसी आदि पढ़ कर सरकारी काम-काज में लग जाते थे, वे 'मुंशी' कहलाते थे; जैसे कि अंग्रेजी राज में अंग्रेजी

पढ़े-लिखे लोग 'बाबू'। जो सरकारी काम नहीं करते थे, वे भी सम्मानार्थ अपने नाम के आगे 'मुंशी' शब्द लगाने लगे। यह स्थिति अंग्रेजी राज में 'बाबू' शब्द की हुई ! मुंशी प्रेमचन्द और 'बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन' सरकारी नौकर न होने पर भी—'मुंशी' 'बाबू' ! आदर के लिए इन शब्दों का प्रयोग होने लगा। हम लोगतो अब तक राजर्षि टंडन को 'बाबू जी' कह कर ही सामने बात चीत करते हैं। परन्तु, इस में सन्देह नहीं कि 'मुंशी' तथा 'बाबू' शब्दों में कोई ऐसी चीज भरी है; जो अराष्ट्रीयता की गन्ध देती है। इसी लिए स्वराज्य प्राप्त होने पर इन शब्दों का प्रयोग एकदम बन्द हो गया और 'श्री' का चलन हुआ।

उस समय ऐसा प्रवाह ही था कि लोग सरकारी सम्मान की ओर झुकते थे, चाहे वह सरकार जैसी भी हो। 'मुंशी' शब्द में और इसके अर्थ में जो चीज भरी हुई थी, उसे राष्ट्रवादी जन समझ गए। सभी वर्गों में मुंशीपन आया था; पर एक वर्ग तो एकदम 'मुंशी' ही हो गया था! आगे थोड़ा और बढ़ने पर सब समाप्त था; परन्तु तपस्वी संस्कृतज्ञ ब्राह्मणों ने सब सँभाल लिया। 'मुंशी' के मुकाबले इन्हों ने 'पण्डित' शब्द चलाया और शिक्षित ब्राह्मणों के नामों के आगे 'पण्डित' शब्द लिखा जाने लगा। उर्दू–फारसी के विद्वान् ब्राह्मण भी 'मुंशी' नहीं, 'पण्डित'। उर्दू-फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान् 'पं० रतननाथ सरशार' को कभी किसी ने 'मुंशी रतननाथ' नहीं कहा, न उन्होंने स्वयं ही उस शब्द को पसन्द किया। परन्तु 'मुंशी' वर्ग का अपढ़ हिन्दू भी 'मुंशी'। हम ने कहा कि हवा चल पड़ी थी। इससे पहले ब्राह्मणों के नामों से पहले 'पण्डित' शब्द लगाने की चाल न थी। 'मुंशी' लोगों ने अपने अभिवादन

–शब्द भी अलग बना लिए थे; मुसलमान आपस में 'सलामाले-कुम' करते थे; हिन्दू आपस में 'नमस्कार' और 'जय राम जी की' करते थे; मुंशी लोग दूसरों से अपने को 'बन्दगी' करवाते थे और आपस में 'आदाबर्जी' चलता था। बड़े अफसरों को झुक कर 'आदाबर्ज' किया जाता था यहीं से मुंशी–पण्डित' संघर्ष शुरू हुआ। इस संघर्ष का फल अच्छा ही निकला। 'मुंशी' जी हिन्दू बने रहे। परन्तु 'पण्डित' शब्द का मजाक खूब बनाया गया। 'मुंशी' शब्द मिश्रित-संस्कृति का द्योतक और 'पण्डित' शब्द विशुद्ध भारतीय संस्कृति का द्योतक। पण्डितों ने बहुत जोर से कहा कि रोटियों के लिए फारसी-अरबी पढ़ कर अपनी संस्कृत भाषा का मजाक उड़ाना मृत्यु से भी बढ़ कर है। प्रवाह को रोकने के लिए उन्हों ने फारसी पढ़ने को भी मना किया। फारसी पढ़ कर पेट पालने की अपेक्षा तो भूखों मर जाना अच्छा !

'न पठेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि'

इस दृढ़ता का आज कोई मजाक उड़ा ले, पर इसमें अपनी रक्षा हुई है। जब विदेशी कपड़ों को जला कर हम लोग अपनी भावना प्रकट करते थे, तब अंग्रेजों के 'बाबू' और 'मिस्टर' लोग हमें 'बेवकूफ' कहते थे कि नहीं ? हमें 'अति सकीर्ण बुद्धि' का कहते थे और हंसते थे। यही बात 'पंडितों' के सबन्ध में है, जो देश का सांस्कृतिक नेतृत्व कर रहे थे। अभी कल की ही बात है हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिलाने का प्रयत्न जो लोग कर रहे थे, उन्हें भी 'संकीर्ण मनोवृत्ति' का 'साम्प्रदायिक' कहा जा रहा था। परन्तु उस संघर्ष का फल अच्छा निकला। सर्वोच्च मस्तिष्क 'स्व' की रक्षा में लग गए। जितना गम्भीर संस्कृत-साहित्य इस युग में बना, उतना और कभी नहीं। इस

सांस्कृतिक मूल-रक्षण का ही प्रभाव था कि आगे तुलसीदास और समर्थ स्वामी रामदास जैसे लोकसंग्रहणी महान् सन्त पैदा हुए और महाराणा प्रताप जैसे स्वाभिमानी तथा छत्रपति शिवाजी जैसे 'स्वराज्य' संस्थापक सामने आए।

एक वर्ग के अतिरिक्त अन्य किसी भी हिन्दू वर्ग ने सामूहिक रूप से मुंशीपन स्वीकार नहीं किया। क्षत्रिय लोगों के नाम के आगे सम्मानार्थ 'ठाकुर' शब्द लगने लगा। 'ठाकुर' इधर प्रभुत्व-सूचक शब्द समझा जाता है; बंगाल में सात्त्विक सम्मान के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है--'श्री रवीन्द्र-नाथ ठाकुर'। खत्री तथा वैश्य जैसे व्यापारी वर्गों को 'लाला' शब्द पसन्द आया और ऊँची स्थिति के लिए 'सेठ'। अन्य वर्गों ने 'चौधरी' शब्द पसन्द किया। इस तरह 'मुंशी' अकेले पड़ गए।

शब्दों का महत्त्व

आप कहेंगे कि इस सांस्कृतिक पुस्तक में यह 'पण्डित'-'मुंशी' का पचड़ा इतने विस्तार से क्यों लिखा गया, जब कि इस लेखक की संक्षेपप्रियता प्रसिद्ध है। निवेदन है कि अनावश्यक एक भी शब्द नहीं। शब्दों का बड़ा महत्त्व होता है। प्रत्येक देश की अपनी भाषा होती है और भाषा के शब्दों में उस देश की संस्कृति या जातीयता भरी रहती है अंग्रेज लोग बड़े उदार होते हैं। परन्तु कभी किसी अंग्रेज ने किसी दूसरे अंग्रेज के नाम के आगे 'श्री' या 'श्रीमान्' या 'जनाब' शब्द लगाया? संस्कृत के परम भक्त जो अंग्रेज विद्वान् हो गए हैं, वे भी (अपने अंग्रेजों के) नाम 'मिस्टर' शब्द से ही ग्रहण करते थे--'श्री' शब्द से नहीं। यही स्थिति अन्य सभी देशों की है। परकीय भाषा का शब्द नाम के आगे लगाने से रूप भी वैसा ही बन

जाने का सन्देह रहता है। रूप वैसा हो ही जाता है! इसी लिए 'स्व' का महत्त्व, स्वभाषा का महत्त्व। साधारणतः--निर्विशेष रूप से—'श्री' शब्द का चलन सब के लिए उस समय हुआ। सम्भव है, हुकूमत ने इसे पसन्द न किया हो और बीच के लोगों ने भी मजाक उड़ाया हो! हो सकता है कि 'श्री' शब्द का प्रयोग करने के कारण लोगों को कुछ क्षति भी उठानी पड़ी हो! कदाचित् यही कारण हो कि लोग 'श्री' को द्विसक्त (डबल) प्रयोग करने लगे हों। बंगाल में अब भी कहीं-कहीं 'श्री श्री अनिल भट्टाचार्य' जैसे प्रयोग सामने आते हैं। कहीं बहुत्व भी 'श्री' को देने लगे और 'श्री श्री श्री जगदीशचन्द्र' लिखने में तीन बार 'श्री' लिखने की जगह 'श्री ३ महाराज विक्रमाजीत सिंह' लिखने लगे, जैसे कि तीन मात्राएँ (प्लुत) सूचित करने के लिए 'ओ३म्' लिखा जाता है। यह जिद या सत्याग्रह यहाँ तक बढ़ा कि 'श्री १०८ महाराज विश्वानन्द' और 'श्री १००८ महाराज उद्धवानन्द' लोग लिखने लगे! करो विरोध, हम एक नहीं, एक हजार आठ बार 'श्री' शब्द का प्रयोग सम्मानार्थ करेंगे। उस समय सम्भव है, यह उत्कट संस्कृति-प्रेम दबाये न दबने पर 'पागलपन' कर के उपेक्षित कर दिया गया हो। १९२० से १९४४-४५ तक स्वराज्य-प्रेमियों को भी लोग 'पागल' ही कहा करते थे। 'पागल हो गए हैं, गूलर का फूल लेंगे।'

शासकों की (विदेशी) भाषाओं के बहुत से शब्द देश ने ग्रहण कर लिए; क्योंकि संकुचित मनोवृत्ति तो कभी इस देश में रही हो नहीं है रूमाल, कागज, हाजत, हजामत आदि सैकड़ों शब्द हजम कर लिए गए; परन्तु जिन शब्दों में संस्कृति भरी हुई है, जिनमें विदेशी जातीयता है, उन्हें नहीं लिया गया। 'रानी' की जगह 'बेगम' शब्द ग्रहण नहीं किया गया। कारण 'रानी'

शब्द में जो भारतीय शासक की पत्नी का भारतीय जीवन झलकता है, वह 'बेगम' में कहाँ है ? 'बेगम' शब्द से कुछ और ही चीज प्रकट होती है। सर्वत्र ऐसे सांस्कृतिक शब्द इसी स्थिति में रहते हैं। अंग्रेज लोग बड़े उदार हैं। अंग्रेजी में 'क्वीन' 'बेगम' तथा 'रानी' आदि शब्द हैं; परन्तु अंग्रेज शासक की पत्नि के लिए सदा 'क्वीन' शब्द का ही प्रयोग होता है, 'महारानी' या 'मलका' 'बेगम' आदि का नहीं। अरब या ईरान के लोग भी 'बेगम' या 'मलका' की जगह 'रानी'-'महारानी' न देंगे। यानी संस्कृति-द्योतक शब्द 'अपने' ही रहते हैं।

सो, सामान्य भाषा के हिन्दी-उर्दू ये दो रूप हो गए और शब्दों का आदान-प्रदान भी हुआ; परन्तु संस्कृति-व्यंजक शब्द अलग-अलग ही रहे। 'गुरु वशिष्ठ' का उस्ताद वशिष्ठ या हजरत वशिष्ठ कहना ऐसा लगता है, जैसे कि कोई गाली दे रहा हो। इसी तरह 'हजरत मुहम्मद साहब' की जगह 'गुरु मुहम्मद' अच्छा नहीं लगता ? मुसलमान कभी भी ऐसे प्रयोग पसन्द नहीं करेंगे। 'मिस्टर' की जगह हम ने 'श्री' चला दिया, इस देश में; ठीक है; परन्तु 'श्री ईडन' या 'श्री डलेस' कहते कुछ भला नहीं लगता। 'मि० ईडन मि० डलेस से मिले' यों इन नामों के आगे हिन्दी में भी—मिस्टर ही अधिक अच्छा लगता है। परन्तु 'पण्डित मदन मोहन मालवीय' को 'मि० मदन मोहन मालवीय' अच्छा नहीं लगता। अंग्रेजी अखबार पहले 'मि० मालवीय' 'मि० गान्धी' जैसे प्रयोग ही करते थे; परन्तु मान्यता बहुत अधिक बढ़ जाने पर वे भी 'पंडित मालवीय' 'महात्मा गान्धी' लिखने लगे थे। यानी अंग्रेजी के अखबारों ने समझा कि ऐसे महत्त्वपूर्ण नाम विदेशी 'मिस्टर' शब्द के साथ अच्छे नहीं लगते--सचमुच

अच्छे नहीं लगते ! 'श्री पुरुषोत्तमदास टंडन' में 'बाबू' की जगह 'श्री' शब्द जम गया; परन्तु 'श्री अबुल कलाम आजाद' अच्छा नहीं लगता। 'अबुल कलाम' के साथ 'मौलाना' शब्द ही भला लगता है। 'मौलाना' शब्द में जो चीज भरी हुई है, वह उस नाम के अनुरूप है। हाँ, 'मिस्टर अली जहीर' की अपेक्षा 'श्री अली जहीर' बहुत अच्छा। 'श्री' फिर भी भारत का ही शब्द है; एशियाई शब्द है, अरब-ईरान का पड़ोसी शब्द है; पर 'मिस्टर' तो बहुत दूर–योरप इंगलैंड–का शब्द है। एशियाई देशों का रहन-सहन कुछ समता रखता है, योरप का एकदम भिन्न पड़ जाता है। भारत के किसी मुसलमान को 'मि० अल्ला बख्श' की जगह 'श्री अल्ला बख्श' कहना अधिक अच्छा। यद्यपि 'श्री' के साथ 'अल्ला बख्श' कुछ जमता नहीं है– हिन्दी-अरबी गँठजोड़ है; पर 'मिस्टर' से फिर भी अच्छा। यदि 'अल्लाबख्श' की जगह 'ईश्वरदत्त' भारतीकरण हो जाए, तो पूरी राष्ट्रीयता आ जाए। ईश्वरदत्त ईसाई गिरजाघर में प्रार्थना करे, ईश्वरदत्त मुसलमान अपनी मस्जिद में जाकर नमाज पढ़े, ईश्वरदत्त हिन्दू यदि वैष्णव है, तो विष्णुमन्दिर में जाकर पूजा करे और शैव है, तो शिव मन्दिर में जाए। ईश्वरसिंह सिख है तो गुरुद्वारे में जाकर वन्दना करे। सबके नाम-रूप एक, मत अलग-अलग। परन्तु यह सम्भव नहीं दिखाई देता। हमारे मुसलमान भाई इस देश की भाषा से घृणा करते हैं। 'सुकर्ण' भी तो मुसलमान ही हैं न? पर हमारे यहाँ कोई मुसलमान 'कर्ण' ही नहीं, 'सुकर्ण' तो दूर की बात है!

संक्षेप यह कि संस्कृति का मूल—सांस्कृतिक शब्दों का अपनाना—बहुत बड़ी चीज थी। इस के साथ ही और बहुत सी बातें हैं। भाषा के साथ लिपि आती है। मुसलमान शासकों ने

इस देश की भाषा के लिए भी फारसी लिपि चलाई और प्रायः इस लिपि के कारण ही हिन्दी का 'उर्दू' नाम पड़ा ! उर्दू का नाम लेकर कितने झगड़े खड़े किए गए और क्या-क्या हुआ ! अब भी यह झगड़ा शान्त नहीं हुआ ! उर्दू का—यानी फारसी लिपि—आग्रह कम नहीं हुआ है ! आगे चल कर यह आग्रह किस रूप में प्रकट होगा, नहीं कहा जा सकता। एक ही चीज को कृत्रिमता से दो-दो नाम-रूप देना और फिर उनके कारण पृथक् संस्कृति और पृथक् राष्ट्र !

हमें इस समस्या पर सोचना होगा। यदि समस्या न सुलझे, जैसी कि सम्भावना है, तो फिर आबादी की अदला-बदली करली जाए। सांस्कृतिक भेद का नाम ले कर ही पाकिस्तान बना है। जो लोग भारतीय संस्कृति से घृणा करते हैं, उसे हेय समझते हैं, वे सब के सब अपने सांस्कृतिक राष्ट्र (पाकिस्तान) चले जाएँ, या भेज दिए जाएँ और पाकिस्तान में जो 'भारतीय' या हिन्दू हैं, वे सब के सब इधर चले आएँ, इधर बुला लिए जाएँ। इससे झगड़ा रोज रोज का दूर हो जाएगा और पाकिस्तान हमारे अच्छे पड़ोसी की तरह रह सकेगा। हजार-दो हजार या दस-बीस हजार लोग इधर के उधर या उधर के इधर हों, रहें, तब कोई झगड़ा नहीं। अत्यधिक विजातीय जन 'अधिकार' के रूप में विजातीय संस्कृति लाने का आग्रह करते हैं और बराबर का अधिकार भी चाहते हैं, तब झगड़ा होता है। यदि ऐसा न होगा, तो खटक बहुत दिन तक रहेगी। निकट भविष्य में यह आशा नहीं कि पाकिस्तान अरबी-ईरानी संस्कृति छोड़ कर अपने देश (सिन्ध, पंजाब, बंगाल) की मूल संस्कृति अपना-लेगा और न यही आशा है कि वहाँ के सब हिन्दू मुसलमान बन जाएँगे ! अब तक नहीं बने, तो अब क्या बनेंगे ! इसी

तरह भारत के मुसलमान भारतीय संस्कृति ग्रहण न करेंगे और न इस देश के (सब के सब) हिन्दू मुसलमान ही बनेंगे। ऐसी स्थिति में वह झगड़ा तो बना ही रहा, जिसे मिटाने के लिए राष्ट्र का विभाजन हुआ और वे-वे दर्दनाक नजारे सामने आए! यदि सांस्कृतिक एकता न हुई, तो राष्ट्र के लिए फिर भयंकर स्थिति पैदा हो सकती है।

(५)

अंग्रेजी राज और स्वराज

मुसलमान आक्रमणकारियों ने, लुटेरों ने और शासकों ने, हिन्दू-भावनाओं को कुचल देने के लिए क्रूर से क्रूर कार्य किए; पर सब सह कर भी यह जाति जीवित बनी रही—'कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः' – जैसे आपत्काल में कछुआ अपने अङ्गों को समेट कर चुपचाप पड़ जाता है, वही स्थिति हिन्दू जाति ने ग्रहण की। बीच-बीच में कबीर, अकबर, नानक और गान्धी जी जैसे महापुरुषों ने प्रयत्न किए कि दोनों मिल कर एक हो जाएँ; पर सब के सब असफल रहे! 'खिलाफत' आन्दोलन के समय अपने मतलब के लिए कुछ मेल-मिलाप नजर आया था; पर वह 'दूध पानी' का नहीं, 'चावल दाल' का सा मेल था और क्षणिक था, स्वार्थ-प्रेरित था, कृत्रिम था। एक न हो सकने का कारण सांस्कृतिक भेद था और है; यह बात पीछे कई बार कही गई है।

मुसलमानी साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने पर योरपीय जातियाँ इधर गीधों की तरह देखने लगीं और मँड़राने लगीं। फ्रेंच, पुर्तगाली, अंग्रेज आदि ने डेरे डाल दिए। कालान्तर में किस तरह अंग्रेजी राज इस देश में जमा और फ्रांस–पुर्तगाल जैसे मौसेरे भाईयों की मूछें ऊँची रखने के लिए नाम-मात्र के प्रदेश उन्हें देकर अंग्रेज ने विविध सन्धियाँ करलीं और किस तरह इस देश के राजाओं ने घुटने टेक दिए; यह सब लिखने की जरूरत नहीं। सब जानते हैं।

आधुनिकता का प्रवेश

अंग्रेजी राज के साथ-साथ इस देश में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। यह संयोग की बात है। यदि अंग्रेजी राज यहाँ न जम पाता और हम स्वतंत्र होते. तो भी आधुनिकता इसी तरह आती। जहाँ अंग्रेजी राज नहीं, वहाँ भी तो आधुनिकता का प्रवेश-प्रसार हुआ ही है! जब हवा चलती है, तो वह सब के लगती है, चाहे उसे कोई चाहे, या न चाहे। यही बात युग-चेतना की है। कुछ भी हो, अंग्रेजी शासन-काल में इस देश ने आधुनिकता का स्पर्श किया।

'बाबू'-'मिस्टर' जमात

जैसे मुस्लिम शासन काल में 'मुंशी''-जनाब' लोगों की जमात बन गई थी, उसी तरह अंग्रेजी राज में 'बाबू'-'मिस्टर' वर्ग बन गया था। अंग्रेजियत के मजनू और अंग्रेजी राज के भाट! कुछ लोगों को 'राय बहादुर' 'सर' आदि के खिताब दे कर सर कर लिया गया था। सो, यह शासनिक तोड़-फोड़ थी। अंग्रेजों के कारण हमारे देश में कोई तीसरी संस्कृति नहीं बन पाई, यह भगवान की दया। अन्यथा, यह एक और बखेड़ा पैदा हो जाता। अंग्रेंजी राज के साथ-साथ वह 'बाबू'-'मिस्टर'-'सर' जमात भी अदृश्य हो गई! वे सब तो हैं, बअबुई आदि जाती रही—वह अराष्ट्रीयता जाती रही। कृत्रिम चीज थी—स्वार्थ मात्र आधार था!

अब राष्ट्रीयता की फिर से नीवँ लग रही है। अब जरूरत है कि हिन्दू जाति को वलिष्ठ और संगठित किया जाए।

जात-पाँत और वर्ण- व्यवस्था का भूत

वर्ण-व्यवस्था का भूत बड़ा भयंकर है। सावधान होने की जरूरत है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये जातियाँ नहीं, 'वर्ण' बनाए गए थे। जाति तो सबकी एक है—हिन्दू। हम सब हिन्दू हैं। 'भारतीय' तथा 'हिन्दुस्तानी' शब्द भी वही अर्थ देते हैं; पर अभारतीय भावना वाले लोग भी अपने को 'भारतीय' तथा 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं; इस लिए स्पष्ट शब्द 'हिन्दू'।

वर्णव्यवस्था से हिन्दू जाति को किसी समय लाभ भी बहुत पहुँचा है। परन्तु अब वह स्थिति नहीं है। अब इस नाम भर की वर्णव्यवस्था से और जात-पाँत के अनगिनत भेदों से हिन्दू जाति छिन्न-भिन्न हो रही है।

वस्तुतः आज वर्णव्यवस्था का नाम भर है। लाभ कुछ नहीं, हानि बहुत। सब अपने को अलग-अलग समझने लगे हैं। इस अलगाव को समाप्त कर देना चाहिए। वर्णव्यवस्था के भूत को भगाने के लिए लाल मिर्चों की धूनी भी देनी पड़े, तो घबराना न चाहिए। ब्राह्मण पण्डितों को चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था हटाने में सहयोग दें। 'क्षत्रियों को राज करना चाहिए' 'वैश्यों को व्यापार करना चाहिए' वर्णव्यवस्था की इस मान्यता, भावना तथा रूढ़ि ने कोटि-कोटि ब्राह्मणों को बहुत घाटे में रखा है, बहुत भौतिक हानि पहुँचाई है। इस भावना को अब हटा देना चाहिए। जो घाटा हुआ; उसकी पूर्ति तो सम्भव नहीं; पर भविष्य अच्छा रहेगा। भावना ही आगे बढ़ाती है और भावना ही आगे बढ़ने से रोक देती है। सो ब्राह्मणों को अब झूठी वर्ण-व्यवस्था को नमस्कार कर लेना चाहिए। तुम्हारे पुरखों ने जो (ब्राह्मणत्व के कारण) त्याग-तपस्या की, उसका फल तुम्हें क्या मिल रहा है? क्षत्रिय

लोग तो अब भी राजा हैं, राज छिन जाने पर भी राजा ही हैं और ऐसी स्थिति तथा इतनी सम्पत्ति है कि शताब्दियों तक उनकी सन्तति राजा ही रहेगी; यदि कोई विशेष घटना न घटी। वैश्य भी अपने पुरखों की कमाई से करोड़पति और अरबपति हैं। ये लोग वर्णव्यवस्था को बनाए रखने के लिए यदि प्रयत्नशील हों; तब तो कुछ कहा भी जा सकता है; परन्तु ब्राह्मण जब इस नाम-मात्र की चीज का समर्थन करता है, तो कुछ समझ में नहीं आता! अपने ही लिए नहीं, सम्पूर्ण जाति के लिए यह हित की बात है कि वर्णव्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए।

जात-पाँत का बखेड़ा

चार ही नहीं सहस्रशः 'जात-पाँत' के भेद बन गए हैं—चल रहे हैं! 'हिन्दू जाति' है; ये सब उसी के अवयव हैं। लोहे का काम करने वाले 'लुहार' कहलाने लगे। धीरे-धीरे वह वर्ग एक 'जाति' माना जाने लगा! जो लोहे का कार्य न करे, वह भी लुहार, यदि उस में पैदा हो गया है! यदि कोई कपड़े बेचता है, तो बजाज। बजाजों का भी एक वर्ग है; पर उसने 'जाति' का रूप नहीं लिया। तेल निकाल कर बेचने वाले लोग 'तेली'। एक 'जाति' बन गई। अब यदि वे तेल का काम नहीं करते, तो भी 'तेली' और मशीन से तेल निकाल कर बेचने का काम करने वाले लोग 'वैश्य' तथा 'ब्राह्मण'! विचित्र बात है! ये सब जात-पाँत के भेद-भाव उठा देने चाहिए।

अस्पृश्यता

हिन्दू जाति में अस्पृश्यता भी एक समस्या है! अस्पृश्य वह, जो नीच हो, दुराचारी हो, रिश्वतखोर हो चोरबाजारिया हो, शराबी हो, घिनौना हो, संक्रामक रोग से पीड़ित हो।

अन्यथा, कोई अस्पृश्य कैसे ? प्रसन्नता की बात है, हिन्दू जाति से यह रोग दूर होता जा रहा है।

एक बात प्रासंगिक। अस्पृश्यता की यह समस्या मुसलमानों में भी है। मैं सन् १९१८ से १९२६ तक पंजाब में रहा। वहाँ देखा, मुसलमानों में भी अस्पृश्य वर्ग हैं। लाहौर में मुझे पता लगा कि भंगियों के दो वर्ग हैं—हिन्दू और मुसलमान। मुसलमान भंगी 'मुसल्ली' कहलाते हैं। मुसल्ली लोग दूसरे मुसलानों से पृथक् रहते हैं। साथ खाना नहीं खा सकते, साथ नमाज नहीं पढ़ सकते! हिन्दू जाति का एक वर्ग 'सिख' है। सिखों में भी अस्पृश्य वर्ग है। अस्पृश्य सिखों को 'मजबी' कहा जाता है।

सो, यह केवल हिन्दूओं में ही भर्त्सना की चीज नहीं, अन्यत्र भी है। ठीक नहीं। हाँ, अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार ऊँची-नीची जगह रहेगी ही, यह अलग बात है। जन्मना ऊँच-नीच की भावना ठीक नहीं; पर संसार में 'जन्मना' का महत्त्व भी है। कोई बच्चा करोड़पति के घर में पैदा होते ही करोड़पति बन जाता है और दूसरा अन्यत्र जन्म लेकर हीन हो जाता है! पं० जवाहरलाल नेहरू के बच्चा पैदा हो जाए, तो उसे (पैदा होते ही) अतुल सुख-सम्मान मिल जाएगा, जो दूसरे को नहीं मिल सकता। श्री इन्दिरा गान्धी को इसी लिए अतिशय सम्मान प्राप्त है कि वे पं० जवाहरलाल नेहरू की पुत्री हैं। वैसे उन्हों ने कोई ऐसा त्याग-तपस्या का काम नहीं किया कि वैसे सम्मान की हकदार हों। इंगलैंड के सम्राट् के यहाँ जन्म लेने के कारण ही कोई बच्चा सम्राट् बन जाता है, चाहे जैसा हो। यही स्थिति सर्वत्र है। जन्मना ऊँच-नीच की भावना और जन्मना अधिकार विचारणीय समस्याएँ हैं।

पर कुछ भी हो, हमें अपनी वर्णव्यवस्था, जात-पाँत भेद तथा छुआछूत की समस्या पर पुनः विचार करना है। महर्षि मालवीय आज होते, तो शायद नई हिन्दू-संहिता का निर्माण होता, युगानुरूप धर्मशास्त्र बनता। इधर केन्द्रीय सरकार के द्वारा जो हिन्दू-विधिविधान बन कर आएँगे, वे निष्कलंक होंगे; इस में सन्देह है। कारण, संसद में अहिन्दू जन भी हैं और हिन्दू-विधि के निर्माण में उनका भी हाथ रहता है।

ब्राह्मण-अब्राह्मण और बनिया-कायस्थ आदि कृत्रिम भेद आज ईर्ष्या द्वेष के कारण बन रहे हैं। चुनाव के दिनों में इस भेद-भाव का नंगा नाच देखने को सब जगह मिल जाता है। 'बड़े-बड़े' लोग भी इस चक्कर में आ जाते हैं। सन् १९४० में बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने ब्राह्मणों के बारे में एक निबन्ध लिख कर काशी के 'आज' में छपाया था। वही निबन्ध फिर पुस्तकाकार छप कर काशी के ज्ञान-मण्डल' से प्रकाशित हुआ। इस की भूमिका कानपुर के सुप्रसिद्ध पूँजीपति श्री रामरतन गुप्त ने लिखी थी। इस छोटे से निबन्ध को इतना महत्त्व दिया गया! मैं ने भी पढ़ा और फिर एक निबन्ध लिख कर लखनऊ की सुप्रतिष्ठित पत्रिका 'माधुरी' में छपाया। फिर मैं ने भी इस निबन्ध को पुस्तकाकार छपाया। बाबू सम्पूर्णानन्द जी मेरे प्रशंसक थे—मेरी पुस्तकों की प्रशंसा करते हुए उन्हों ने कलम तोड़ दी है। परन्तु उपर्युक्त निबन्ध छपने के बाद मुझ से इतने नाराज हो गए कि जिसकी कुछ हद नहीं! वे इस समय हमारे प्रदेश के मुख्य मंत्री हैं। इस वाक्-संघर्ष का फल यह हुआ कि मेरा बहिष्कार किया गया! मैं ने प्रतिज्ञा कर ली है कि कभी भी, पुरस्कार की प्रतियोगिता में, अपनी कोई भी पुस्तक न भेजूँगा। क्या इससे मन नहीं मर जाता? कोई अच्छा काम कैसे करेगा? राष्ट्र के

लिए यह हितकर है क्या ?

हाँ वह निबन्ध चर्चा रही जाती है। वह एक नमूना है कि विद्वान और त्यागी नेता भी जात-पाँत के भेद-भाव से झुलस जाते हैं! मैं कभी ऐसी बातों में न पड़ा था; पर मुझे भी कुछ लिखना पड़ा। मैं यहाँ अपने उस निबन्ध को उद्धृत करना चाहता हूँ। श्री सम्पूर्णानन्द जी के निबन्ध में क्या है; इसी मेरे निबन्ध से अन्दाजा लग जाएगा। जो लोग उनका पूरा निबन्ध पढ़ना चाहें, 'ज्ञान मण्डल, काशी' से मंगालें। निबन्ध का शीर्षक है—'ब्राह्मण, सावधान !' आगे के लोग इन निबन्धों से समझ सकेंगे कि बीसवीं शताब्दी के मध्य में भी हिन्दू जाति की जात-पाँत की व्यवस्था किस तरह गड़बड़ी मचा रही थी। मैं तभी से अनुभव करने लगा कि यह वर्ण-व्यवस्था या जात-पाँत की लकीर मिटनी चाहिए। यह साँप बन रही है।

सो, मेरा वह निबन्ध यह है:—

"काशी के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय पत्र 'आज' में विद्वद्वर बाबू सम्पूर्णानन्द जी का एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्त्वपूर्ण लेख कई अंकों में निकाला था—'ब्राह्मण! सावधान' शीर्षक से। 'काशी ज्ञान-मण्डल' ने उक्त लेखमाला को बहुत उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण समझ कर पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया। इस पुस्तक को पढ़ कर इस विषय पर कुछ लिखने की प्रेरणा मुझे मिली। फलतः यह निबन्ध लिखा गया।

मेरा विचार था कि इसे 'आज' में ही प्रकाशित कराया जाए। परन्तु जब मुझे उसके सम्पादकीय विभाग के प्रमुख बाबू परमेश्वरीलाल गुप्त का स्पष्ट उत्तर मिल गया कि अब 'आज' में इस विषय पर कोई लेख न छपेगा, तब 'माधुरी' को भेजना पड़ा। यह निबन्ध बाबू सम्पूर्णानन्द जी के उस निबन्ध का न तो

उत्तर है, न उत्तर में लिखा गया है। एक स्वतन्त्र चीज है। हाँ, उसे देखने के बाद ही इसके लिखने की इच्छा हुई। तो भी, कहीं कुछ उत्तर-सा जान पड़े, तो यह स्वभाविक ही है। कहीं नामोल्लेख भी हुआ है।

इस प्रकार के सामाजिक तथा सांस्कृतिक निबन्ध लिखना बड़ी जिम्मेदारी का काम है। 'रग पर नश्तर' लग जाने का डर रहता है। जो लोग दोनों निबन्धों को पढ़ेंगे, वे समझेंगे कि इनके लिखने में भावना की कितनी निर्मलता है। बाबू जी के उस निबन्ध को पढ़ कर कुछ ब्राह्मण चिढ़े थे। मेरे इस निबन्ध को पढ़ कर, सम्भव है, उसी तरह कुछ दूसरे लोग बुरा मानें! परन्तु इसमें लेखक का दोष नहीं। तत्त्व-विवेचन से बुरा मानने की प्रवृत्ति अच्छी नहीं। इससे समाज को चेतना मिलती है।

आर्य-संस्कृति विश्व-विश्रुत है। जितनी यह प्राचीन है, उतनी ही सुन्दर और महत्त्वपूर्ण। परन्तु प्राचीन सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण चीजें भी देखते-देखते नष्ट हो जाती हैं। गुलाब के फूल को मसल कर पाँवों के नीचे कुचल देने वाले क्या कम हैं? देखते-देखते संसार के न जाने कितने राष्ट्रों की संस्कृतियाँ जनमीं, बढ़ीं और सदा के लिए विलीन हो गई! केवल इतिहास में उनका नाम भर मिलता है। उन (नष्ट हो जाने वाली) संस्कृतियों में कई तो इतनी उत्तम सुनी जाती हैं कि उनकी तुलना आर्य-संस्कृति से की जा सकती है! फिर भी वे नष्ट हो गई! बड़े-बड़े राष्ट्रों की अपनी भाषा तथा लिपि तक नष्ट हो गई। विजेताओं की भाषा और लिपि वहाँ अपना ली गई। उन देशों का अपना प्राचीन साहित्य एकदम लुप्त हो गया। संस्कृतियों का यह महाप्रलय प्रायः राज्य-परिवर्तन से होता है, कभी अन्य कारणों से भी। यह जोरदार धक्का है, जिसे सहन करने में बड़ी-बड़ी

संस्कृतियाँ असमर्थ देखी गई हैं। कुछ संघर्ष के बाद, धीरे-धीरे सब लोग अपने विजेता की ही सभ्यता ग्रहण कर लेते हैं—वही भाषा, वही लिपि, वही वेश-भूषा और वही रहन सहन। अपना सब कुछ लुप्त हो जाता है। यही संस्कृति का विनाश है।

संसार के विचारकों को इस बात का आश्चर्य है कि संसार की सबसे पुरानी यह आर्य-संस्कृति अब तक जीवित कैसे रही! इतने आघात सह कर भी आज यह ऊँचा सिर किये खड़ी कैसे है! वस्तुतः आश्चर्य की बात है। परन्तु यह अकारण नहीं है। बिना कारण के हो कोई चीज नहीं हो जाती। आर्य-संस्कृति की इस अमरता का कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिए; भले ही उस ओर किसी का ध्यान न गया हो। इस संस्कृति के मूल में अवश्य ही कोई ऐसा तत्त्व है, जिसने इसे इतने दिन जीवित रखा। संसार की सबसे पुरानी वेद-भाषा आज भी विद्यमान है। संसार का सबसे पुराना साहित्य—हमारे वेद—ज्यों के त्यों सब लोग देख रहे हैं। उनके पठन-पाठन का तथा उच्चारण आदि तक का वही क्रम आप इस समय भी देख सकते हैं। सहस्रों कण्ठों से नित्य प्रातःकाल उसी स्वर में 'अग्निमीले पुरोहितम्' की ध्वनि आज भी निकलती है, जिसमें उस युग के ऋषि बोलते थे। क्या यह थोड़ी बात है? हमारी अपनी लिपि और अपनी भाषा है, जिनमें समय-क्रम से विकास हुआ है। सारांश यह कि ऊपरी नूतनता की स्वीकृति हमारे यहां आवश्यकतानुसार हुई है; परन्तु मूलतः संस्कृति अपनी सुरक्षित है। उस युग से अब तक वह अटल है। हिमालय से निकलने वाली गंगा ही सागर तक है, भले हो बीच में वह कुछ विरूप दिखाई दे।

हाँ, तो सोचने की बात यह है कि हमारी यह संस्कृति इतने दिन जीवित कैसे रही! इसका कारण क्या है?

मेधा और त्याग

आप जरा-सा भी ध्यान देकर देखेंगे तो संस्कृति-जीवन का मुख्य कारण मेधा और त्याग में मिलेगा। जिस कुटुम्ब का संचालक बुद्धिमान् और स्वार्थ-रहित होगा, वह समृद्ध होगा, उसे जीवन मिलेगा। यदि कुटुम्ब का मुखिया स्वार्थी अथवा बुद्धि-रहित हो, तो सब खेल बिगड़ जाएगा। कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो जाएगा। यदि उसमें बुद्धि नहीं है, तो निःस्वार्थ होने पर भी कुटुम्ब-सञ्चालन न हो सकेगा। बुद्धि होने पर भी यदि स्वार्थ है, तो भी कुटुम्ब न चलेगा। कुटुम्ब के सभी अवयव भीतर-ही भीतर कुढ़ेंगे और अपने मुखिया या सञ्चालक से बुरा मानने लगेंगे। आगे चल कर संघर्ष और सब खेल खतम! सब अपने-अपने राग में मस्त हो जाएँगे, सब अलग। कुटुम्ब समाप्त!

समाज या राष्ट्र भी एक कुटुम्ब ही है, बड़ा कुटुम्ब। बिना सञ्चालक के यह कैसे चल सकता है? समाज के सञ्चालक में भी वही चीज चाहिए, जो कुटुम्ब के मुखिया में—मेधा और त्याग।

जब आर्य-संस्कृति ने जन्म लिया, तो उसके साथ ही मेधा और त्याग का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों चीजें ऐसी नहीं हैं कि जो किसी को दी जा सकें, या किसी से ली जा सकें। इनकी स्वतः प्रवृत्ति होती है। आर्यों का एक वर्ग सामने प्रकट हुआ, जो बुद्धि का धनी था। बुद्धि से ही समाज में सब कुछ होता है। इसे चाहे जहाँ लगा दो। उस मेधावी आर्य-वर्ग ने स्वार्थ का बलिदान किया। सर्वथा-समर्थ होने पर भी सांसारिक प्रलोभनों से वह दूर रहा। उसने समस्त आर्य जाति के अभ्युदय को ही अपने जीवन का उद्देश्य बनाया। उसने अपने से कम बुद्धि रखने वाले (अपने समाज के) एक वर्ग को राजसत्ता सौंपी और स्वयं उसकी सहायता की। उससे भी कम प्रतिभा रखने वाले वर्ग को व्यापार

आदि समृद्धिजनक कार्य सौंपे। उसने इस वर्ग को भी अपना माहात्म्य-शिक्षण दिया। शेष जनता को विविध कला-कौशल तथा परिचर्या में नियुक्त किया गया। चाहे यह श्रम-विभाग स्वेच्छया हो गया हो, चाहे प्रेरणा या अनुशासन के द्वारा इसकी स्थापना हुई हो; पर हुआ ऐसा। इस व्यवस्था से एक लाभ हुआ। परम्परागत कार्य-पद्धति के कारण विविध तत्वों का अच्छा विकास हुआ।

देखने से स्पष्ट पता चलता है कि इस वर्ग-विन्यास या वर्ण-व्यवस्था में एक वर्ग या वर्ण ऐसा है, जो आज तक बुद्धि-प्रधान प्रसिद्ध है, जिसके द्वारा समाज सदा सञ्चालित होता रहा; परन्तु जिसने अपने लौकिक सुख-साधन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। सुख-समृद्धि का कोई साधन नहीं अपनाया; सब कुछ बाँट दिया—तुम राज्य करो, तुम व्यापार करके धन कमाओ और तुम कला-कौशल के द्वारा आनन्द करो। अपने लिए क्या रखा? सुख की बात जाने दो, साधारण जीवन-निर्वाह के लिये भी कुछ न रखा!

यह त्यागी और मेधावी वर्ग समस्त आर्य-संस्कृति का सञ्चालन करता था। सबको सब कुछ देकर स्वतः निःस्पृह था। इसी लिए मनु जी ने लिखा है कि 'ब्राह्मण का दिया हुआ सब खाते हैं और ब्राह्मण अपना खाता है।' मनु जी के इस कथन में तथ्य है।

इसे यों समझिए—आपके कालेज में प्रिंसिपल तीन हजार रुपये मासिक वेतन लेता है और घंटा-दो घंटा काम करता है। शेष सब प्रोफेसर भी पांच-पांच सौ या अधिक लेते हैं और तीन-तीन घंटे काम करते हैं। आपके राजमंत्री चार हजार रुपये लेते हैं और दो-चार घंटे कुछ देख सुन लेते हैं। इसी

तरह और खर्च हैं। ये समाज के लिए करते हैं; पर इनके खर्च के लिए जो वेतन दिये जाते हैं, उनसे समाज चुस जाता है। वह सब रुपया आपकी जेबों से जाता है। फलतः समाज में उतना शोषण होगा।

अब कल्पना कीजिए—वह प्रिंसिपल, वे प्रोफेसर, वह राजमंत्री और दूसरे बुद्धिजीवी अफसर यदि वेतन लेना बिल्कुल बन्द करदें और काम दिन-रात तन-मन से करने लगें, तो कैसा रहेगा? समाज का सुख बढ़ेगा कि नहीं? उस अवस्था में उन (प्रिंसिपल आदि) को या उनके घर वालों को आप अपने घर से ले जाकर रोटी-दाल दे आयें, तो वह आपने उनको दिया, या वे आपको दे रहे हैं? आपको वे रोटी दे रहे हैं, या आप उन्हें दे रहे हैं? मनु जी के उस वाक्य का यही मतलब है। परन्तु उस त्यागी वर्ग की एक और पद्धति भी आगे आई। वे समाज की सेवा करते थे और इधर-उधर बिखरे पड़े अन्न-कण उठा लाते थे। शाक-पात नोच लाते थे। उसी से जीवन-निर्वाह करते थे। ये मतलब न रखते थे। इसका मानसिक क्षितिज ही कुछ ऐसा था, जहां लिखा था—

आठ गांठ कौपीन में, अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी जो सन्तोष है, इन्द्र बापुरो कौन?

और यह सन्तोष त्याग-मूलक था। चीज प्राप्त होने पर भी उसे ग्रहण न करना त्याग है। चाणक्य के इङ्गित पर सम्राटों के सिंहासन बनते बिगड़ते थे। चन्द्रगुप्त उसका खिलौना था। परन्तु वह राज-वैभव से दूर रहता था, सुख-समृद्धि से अलग। फूस की कुटिया में चटाई पर बैठा हुआ देश की राजनीति का सञ्चालन करता था। यह उसी त्यागमय मेधावी जीवन का प्रवाह था।

यह त्याग की परम्परा लाखों-करोड़ों वर्षों तक चली। संसार भर में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश मिलेगा, जहाँ एक वर्ग ने त्याग और तपस्या का उत्तराधिकार इतने दिन तक चलाया हो। राज्य और धन-समृद्धि का उत्तराधिकार चलता है, कष्टमय जीवन का नहीं। यदि कहीं कोई त्यागी जन-सेवक हो गया, तो यह आशा नहीं की जा सकती कि उसका पुत्र तथा पौत्र भी वैसा ही होगा। त्याग की वसीयत कौन ग्रहण करे! परन्तु इस देश में एक बहुत बड़े मेधावी वर्ग ने लाखों वर्षों तक अपनी सन्तान को त्याग और बलिदान का उत्तराधिकार दिया, जिसे उसने सहर्ष ग्रहण किया। इस प्रकार आर्य-संस्कृति को एक ऐसा वर्ग मिला, जो सदा उसके रक्षण और विकास में ही सन्तुष्ट रहा। सब आपदाएँ उठाकर, अनेक तपस्याएँ करके, उसने इस संस्कृति की रक्षा की। इतिहास इसका साक्षी है।

जब-जब किसी संघर्ष के कारण आर्य संस्कृति पर आघात हुआ है, इस कर्मठ वर्ग ने आगे अपनी छाती अड़ाकर इसकी रक्षा की है। इस संस्कृति को पिछला सबसे बड़ा धक्का विदेशी विजेताओं द्वारा लगा। वे अरब, ईरान, न जाने कहाँ-कहाँ की सभ्यता अपने साथ लाए। दोनों धाराएँ टकराईं; पर हमारी धारा की विजय हुई। वह अब भी अपने रूप में है। परन्तु संघर्ष बहुत बड़ा हुआ।

उस मुसलिम काल में

आर्य-संस्कृति को बहुत बड़ा खतरा उपस्थित हो गया था। इस देश में ब्राह्मणों के अतिरिक्त आर्य जाति का दूसरा वर्ग भी बुद्धि और विद्या में कुछ-कुछ आगे था: परन्तु त्याग और तपस्या का उसमें अभाव था। अपनी कलम से लौकिक सुख-

साधन करना ही उसका उद्देश्य था। विदेशी शासकों का काम चल ही नहीं सकता, जबतक विजित देश के एक ऐसे वर्ग को अपने में न मिला लें, जो बुद्धिप्रधान हो। उन्होंने उद्योग किया और यह 'कलमजीवी' वर्ग उनसे मिल गया। भाषा, भेष, सभ्यता आदि सभी बातों में हमारे इस वर्ग ने विजेताओं का पक्ष ग्रहण किया। अब हमारी संस्कृति को अधिक खतरा बढ़ा। मौलवी की कुल्हाड़ी उसे काटने में असमर्थ थी, यदि 'मुंशी' का बेंट उससे न मिलता। इस समय ब्राह्मणों ने इन मुंशियों की निन्दा करनी शुरू की, जो फारसी पढ़-लिखकर बड़े-बड़े अफसर और उर्दू पढ़कर साधारण मुंशी बने हुए थे। उस समय संस्कृति पन्नों में इस वर्ग की जो भर्त्सना हुई आज भी 'सुभाषितरत्न-भाण्डागार' आदि सुभाषित ग्रन्थों में देखने को मिल सकती है। इस वर्ग के लोगों को 'शूद्र' कहा गया, जो हमारे यहाँ सबसे बड़ी गाली है। बिदेशी शासकों से मिलकर उनकी सभ्यता ग्रहण कर लेता शूद्रता से भी परे की चीज है जब किसी वर्ग को विदेशी शासकों का बल प्राप्त हो जाय, तो इसी प्रकार के अधिक्षेप आदि से जनता उनके प्रति अपने भाव प्रकट करती है। आजकल जैसे हम लोग रायबहादुरों को और 'सर' आदि पदवीधारियों को तथा सरकारी मशीन के पुर्जों को हीन दृष्टि से देखते हैं। इसी तरह उस समय उस वर्ग की बात समझिए।

इधर ब्राह्मण-वर्ग में कड़ी प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने कहा — 'न पठेत् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।' चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, विदेशियों की भाषा मत पढ़ो। अर्थात् सब कुछ सह कर भी 'स्व' मत छोड़ो—अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, 'स्व' की रक्षा के लिए ही उन्होंने पर-भाषा की वैसी उपेक्षा की थी। तभी 'स्व' की रक्षा हो सकी। अन्यथा, उस प्रवाह में सब बह जाता।

इस प्रकार जब यह राष्ट्रवादी (मेधावी और तपस्वी) वर्ग 'स्व' की रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर सामने आ खड़ा हुआ और उस अवसरवादी (विजेताबोध्य) बुद्धिजीवी दल की उस ढँग से आलोचना करके जनता को उधर से हटाने लगा, तो एक आपसी संघर्ष शुरू हो गया। उस समय राजसत्ता के बल पर उस अवसरवादी वर्ग ने राष्ट्रवादी वर्ग को तंग करना प्रारम्भ किया, जैसाकि स्वाभाविक था। परन्तु इस दृढ़ता और तपस्या का फल यह हुआ कि साधारण जनता ने इस (राष्ट्रवादी) दल का अनुवर्तन किया, इसका साथ दिया। कर्मणा साथ न दे सकने पर भी मनसा इसका समर्थन किया। वह (अवसरवादी) दल यों अकेला पड़ गया, या एक प्रकार से समाज द्वारा बहिष्कार सा हो गया। उसे लोग 'आधा मुसलमान' तक कहने लग थे। इस प्रकार जब उस दल की उपेक्षा हो गई और इस (राष्ट्रवादी) बुद्धि-प्रधान वर्ग का पक्ष ग्रहण किया गया, को 'स्व' की विजय हो गई। चाहे जैसे भी, अपनी संस्कृति बची रही। आगे चलकर जब अँग्रेजी राज्य आया, तब फिर एक बड़े जोर का धक्का लगा, जिसका प्रभाव अभी तक कम नहीं हुआ है। अब भी अपनी संस्कृति के लिए वैसे ही ब्राह्मणों की जरूरत है। इसी ओर संकेत करने के लिए यह उपक्रम है। इसका विस्तार से निर्देश आगे किया जायगा।

उदार भाव

समाज का नेतृत्व करने के लिए बुद्धि और त्याग की जरूरत है, पीछे कहा गया है और यह भी बतलाया गया है कि विशाल आर्य जाति के एक प्रभावशाली वर्ग ने अपने आपको पूर्णतः इसमें खपा दिया था। त्याग की एक परम्परा ही चल पड़ी थी। परन्तु इन तत्वों के साथ कुछ और बातें भी जरूरी

हैं. जिनके बिना समाज का संचालन सम्भव नहीं है। इनमें से उदारता और तेजस्विता मुख्य हैं। वे दोनों गुण भी ब्राह्मण में सदा रहे हैं। यदि ऐसा न होता. तो कभी भी समाज इनके पीछे न चलता।

ब्राह्मण ने कभी स्वार्थ को प्रश्रय नहीं दिया, न अपने लिए, न अपने कुटुम्ब के लिए, न अपने वर्ग के लिए। जिस ब्राह्मण ने अनुचित काम किया, उसकी खुलकर निन्दा की। अपने वर्ग का कोई पक्षपात नहीं। रावण को राम ने दण्ड दिया। ब्राह्मणों ने इसका समर्थन किया और अब तक, प्रति वर्ष, पाप का प्रतीक वह (रावण) इनके द्वारा जलाया जाता है। प्रति वर्ष ब्राह्मण ही रावण के पुतले में आग लगाते हैं। समाज के प्रति इससे बढ़कर निष्ठा और क्या हो सकती है? दूसरी ओर देखिए, कंस और दुर्योधन आदि वे अत्याचारी हैं, जिन्होंने रावण को भी मात कर दिया था। रावण नें किसी माँ की गोद से छीनकर उसके बच्चे को, उसके सामने ही, शिला पर पटक-पटक कर कभी न मारा था। उसने किसी की स्त्री को भरी सभा में नग्न करके अपनी जंघा पर बैठाने का दुष्कृत्य कभी न किया था! रावण से बहुत बढ़कर इन सब के कुकृत्य हैं। परन्तु इनमें से किसका पुतला हर साल जलाया जाता है? एक रावण ही तो वैसा न था! इसमें यही तो रहस्य है। ब्राह्मणों ने उदारता दिखलाई। रावण-दाह प्रतिवर्ष होता है। मतलब यह कि ब्राह्मण को पतित न होना चाहिए, सब ठीक हो जायगा। सिर न डूबे, चाहे सब शरीर डूब जाय। वह कभी डूबा न कहा जायगा। सब सुरक्षित है। सिर गया. तो सब गया। ब्राह्मणत्व की रक्षा इसीलिए; सम्पूर्ण आर्य-जाति तथा आर्य-संस्कृति की रक्षा के लिए।

जैसे ब्राह्मणों ने अपने वर्ग के किसी पतित व्यक्ति को दण्ड देने का समर्थन किया, उसी तरह वर्ग-प्रशंसा से भी दूर रहे। राम ने एक पतित दस्यु को संसार से दूर किया, जिसके लिए उनकी पूजा होती है; परन्तु परशुराम ने न जाने कितने दस्युओं का अपने परशु के बल पर दमन किया उन नर-पिशाचों से मातृ-भूमि की रक्षा की, जो यहाँ पैदा होकर यहीं के लोगों को चूस रहे थे, अपने आपको 'राजा' कहकर। उस निरंकुशता को उन्होंने अपनी शक्ति से मिटाया। इस प्रकार स्पष्ट है कि परशुराम संसार में राज्यक्रान्ति के प्रथम महापुरुष थे। उनमें ब्राह्मणत्व था। दुष्टदमन करके भी स्वयं राज-सत्ता कभी ग्रहण न की। वही कौपीन और कमंडलु! राज्य के मेधावी ब्राह्मणों को तब तक के लिए वे विजित राज्य सौंप देते थे, जब तक उस राज-वंश के उत्तराधिकारी वयस्क होकर सब सँभाल न लें। वे सात्त्विक ब्राह्मण भी कर्त्तव्य समझ कर तब तक राज-सत्ता सँभालते थे, जब तक राज-वंश के अधिकारी सँभालने योग्य न हो जाते थे। फिर उन्हें वह थाती सौंप कर आप अलग हो जाते थे। एक प्रकार का 'कोर्ट आफ वार्ड'। इस प्रकार परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी-प्रदक्षिणा की और भू-भार उतारा। कभी कहीं ब्राह्मणों का क्षत्रियों के साथ राज-सत्ता के लिए झगड़ा नहीं हुआ। परशुराम के द्वारा प्रदत्त राज्य-श्री पुनः प्राप्त करने के लिए कभी किसी राज-वंश के परम्परागत अधिकारी को किसी ब्राह्मण से झगड़ना नहीं पड़ा। यह ब्राह्मणों की सात्त्विक वृत्ति का प्रबल उदाहरण है।

ऐसे महापुरुषों ने जब देखा कि राम के रूप में एक योग्य शासक का प्रादुर्भाव हो गया है, जो सबको भली भाँति ठीक मार्ग पर चला सकते हैं, तब उन्हें वह सब काम सौंपकर अपनी तपस्या के लिए वन का मार्ग ग्रहण किया। वह राजनीति का काम

तो उन्हें करना पड़ा था, किसी वैसे क्षत्रिय के अभाव में। अधिकारी मिलते ही अपना धनुष-बाण आदि सब अलग रख दिया, सौंप दिया। तुम्हारा काम जाने, तुम जानो! इस तरह के अप्रतिम महापुरुष का भी मन्दिर है? कहीं अर्चना होती है? यह इसीलिए कि ब्राह्मणों ने ऐसा उचित नहीं समझा। वैसी उदारता सब में सम्भव नहीं। सम्भव था, परशुराम की पूजा प्रचलित होने से क्षत्रिय-समाज को बुरा लगता और दो प्रधान वर्गों में अनबन हो जाती। बुद्धि का शस्त्र के साथ सहयोग न हो, कृष्ण अर्जुन से अलग हो जायँ, तो क्या होगा? सर्वत्र पराजय! तब आर्य-जाति और संस्कृति का क्या होता यही सब सोचकर ब्राह्मणों ने परशुराम-पूजा का विधान न किया, यद्यपि बाद में बुद्ध-पूजा का स्वागत किया। इसी उदारता का फल है कि आज तक हम सब एक जाति के अंग हैं।

परशुराम के प्रसङ्ग से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्राह्मणों ने आवश्यकता पड़ने पर राजनीति में शस्त्र-ग्रहण भी किया है; पर विशेष स्थिति में। जब हमारे शासक (क्षत्रिय) वर्ग में कोई त्रुटि या शिथिलता आई है, तभी ऐसा हुआ है। झाँसी की ब्राह्मण-कन्या और ब्राह्मण-वधू (महारानी लक्ष्मीबाई) ने तब तलवार उठाई, जब क्षत्रियों की मर्दानगी ओजहीन हो चुकी थी। उसी समय अनेक अन्य ब्राह्मणों ने भी शस्त्र ग्रहण किया। इसका मतलब यह हुआ कि चार वर्णों की कर्म-व्यवस्था साधारण तौर पर है। विशेष परिस्थिति में सबको सबके काम करने चाहिए। हमारे घर में कल्लू कहार पानी भरता है। हम सब लोग पीते हैं। परन्तु घर में आग लग जाने पर भी हम उसी के भरोसे बैठे रहें और सोचें कि पानी भर कर लाना हमारा काम नहीं तो हमारा घर जलकर खाक हो जायगा। कर्म अथवा वर्ण-व्यवस्था का

यह मतलब नहीं।

खैर, जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में कभी भी अपने वर्ग के प्रति पक्षपात नहीं रहा है, उचित भी नहीं, अनुचित की कौन कहे। उनकी इस विशाल-हृदयता ने ही उन्हें समाज का नेतृत्व दिया।

अंग्रेजी राज्य

जब देश में अँग्रेजी राज्य आया, तो एक नई हलचल उत्पन्न हुई। तब तक मुसलमानी राज्य के प्रभाव से हमारी समाज-व्यवस्था में शिथिलता आ गई थी। मूलतः अपनी संस्कृति सुरक्षित रहने पर भी ऊपरी ढाँचे में कुछ साधारण परिवर्तन आ गए थे। ऊपर कह आए हैं कि दो बुद्धि-प्रधान (राष्ट्रवादी तथा अवसर-वादी) वर्गों में संघर्ष शुरू हो गया था—'पण्डित' जी में और 'मुंशी' जी में झगड़ा चल रहा था। इसका फल यह हुआ कि राजसत्ता तो राष्ट्रवादी दल के विरुद्ध थी ही, समाज में भी कुछ भाव-परिवर्तन हो गए। उस अवसरवादी दल ने ऊपर से विदेशी शासकों की सभ्यता स्वीकार करके भी अपना 'धर्म' न छोड़ा, हिन्दुत्व न छोड़ा। इसमें दृढ़ता दिखलाई। ब्राह्मणों के साथ संघर्ष करके भी हिन्दुत्व न छोड़ना एक विशेष बात थी। यह भी कहा कि हिन्दुत्व का ठेका ब्राह्मणों पर ही नहीं है, हम भी उसी जाति के अंग हैं, जिसके ब्राह्मण। इस प्रकार की भावना ने हिन्दू-जाति को बचाया, बल दिया। साम्य-भावना में शक्ति है। परन्तु धीरे-धीरे इसका फल यह हुआ कि साधारण जनता में भी यह भाव जाग्रत हुआ। लोग हिन्दुत्व में पक्के थे, ब्राह्मणों का सम्मान भी करते थे, पर उनकी 'सेवा' करने में शिथिलता आ

गई। अमावस-पूनो आदि के सीधे-सामान भी बन्द होने लगे। जो लोग रूखा-सूखा खाकर जन-शिक्षण का काम किया करते थे, वे भी चिन्तित हुए। राजसत्ता से सहयोग न था। उर्दू-फारसी पढ़े बिना (हिन्दी-संस्कृत वाले को) सरकारी नौकरी कौन देता? भूमि भी पास न थी। वैसी परम्परा में ही ये न थे। जो उस परम्परा में थे वे राजा, ताल्लुकेदार और जमींदार बने मजे में थे, भले ही तलवार पकड़ने का शऊर न हो। ब्राह्मण लोग व्यापार भी न कर सकते थे। पूँजी कहाँ से लाते? उनकी तो परम्परा ही दूसरे ढँग की थी। पूँजी एक दिन में इकट्ठा नहीं हो जाया करती। बिड़ला और डालमिया आदि पर लक्ष्मीजी ने एक ही पुश्त में इतनी कृपा नहीं करदी है। ब्राह्मणों के बच्चे जब रोटियों के लिए भी तरसने लगे, तब ये डगमगाए। ऐसी परिस्थिति में महाराणा प्रताप जैसे फौलादी को भी पिघलते देखा गया है। ब्राह्मणों ने युगों तक कष्ट का जीवन बिताया था; पर जनता का बल था। विदेशी शासन से उसमें शिथिलता आ गई। कष्ट-सहन की भी कोई सीमा होती है। ब्राह्मण कुछ विचलित हुए।

अँग्रेजी राज्य आने पर जब नए युग का आरम्भ हुआ और प्रत्यक्षः संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की दुहाई दी जाने लगी, तब ब्राह्मण-समाज ने भी अँग्रेजी पढ़-लिखकर राज-काज में भाग लेने की सोची। ब्राह्मण भी अंगरेजी पढ़ने लगे और सरकारी नौकरियों में जाने लगे। वह अवसर वादी वर्ग तो पहले से ही राज-दरबार में डटा था। इस नये और प्रभावशाली वर्ग को वहाँ आते देख चौंका, गुर्राया। 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता।' नौकरी एक कुत्ते का-सा काम है। दूसरे को आता देख गुर्राना स्वाभाविक है।

दोनों दलों में भीतर ही भीतर संघर्ष चला। अब तक

प्रतिस्पर्द्धा चल रही है, विशेषतः युक्त-प्रान्त में। यहाँ तक कि कांग्रेसी हलके भी इस हलकेपन से खाली नहीं हैं। जब सन १९३७ में देश के विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने, तो स्वभावतः सर्वत्र ब्राह्मणों का प्राधान्य रहा। जनसत्तात्मक शासन में यह सम्भव ही है। जिस वर्ग ने अपने अधिक आदमी त्याग और तपस्या के जीवन में लगाये थे, उसी की प्रधानता होनी ही थी। सब मन्त्रि-मण्डलों में ब्राह्मणों की प्रधानता देखकर युक्त-प्रान्त के प्रतिद्वन्द्वी दल से एक आवाज उठी—'ब्राह्मण-राज्य! ब्राह्मण-राज्य!' कांग्रेस-विरोधी 'लीडर' आदि अखबारों ने इस आवाज को ऊँचा उठाया। हंगामा खड़ा कर दिया गया। आखिर किसे मन्त्रि-मण्डल में लें? किसे अलग करें? अन्ततः प० प्यारे-लाल शर्मा को समझाकर शिक्षा-मन्त्री के पद से त्याग-पत्र दिलाया गया और बाबू सम्पूर्णानन्द जी को उनकी जगह लाकर बैठाया गया। तब वह 'आन्दोलन' शान्त हुआ। कहने का मतलब यह कि मुसलमानी शासनकाल में आर्य-जाति के जिन दो बुद्धि-प्रधान वर्गों में संघर्ष चल पड़ा था, वह अब तक चल ही रहा है। अभी हाल की ही बात है, बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने एक बहुत अच्छी पुस्तक लिखी—

ब्राह्मण! सावधान

इसमें ब्राह्मणत्व को पुनः जागृत करने के लिए एक चेता-वनी थी। लिखा था कि ब्राह्मण पहले कैसे थे और अब कैसे हो गए हैं। समाज की रक्षा के लिए इन्हें फिर सजग होना चाहिए।

चूँकि वह संघर्ष की भावना विद्यमान थी, इस चेतावनी से भी ब्राह्मणों ने बुरा माना; उसी तरह जैसे श्री सहगल के ('चाँद' के) 'मारवाड़ी अङ्क' से मारवाड़ी समाज ने और मिस

मेयो की 'मदर इण्डिया' से भारतीय समाज ने कभी बुरा माना था। यदि मन में कुछ वैसी भावना न होती, तो उस पुस्तक में कोई वैसी बात न थी। एक विद्वान् कायस्थ ने ब्राह्मण-समाज के उत्थान के लिए कुछ लिखा, तो क्या बुरा किया ? क्या कायस्थ अपने नहीं हैं ? इस प्रकार की भावना अच्छी नहीं। आर्य-जाति के सब अंग हैं, सब समान हैं। एक-दूसरे को चेतावनी देकर उठावें, तो बुरा क्या है ? संकुचित मनोवृत्ति छोड़नी चाहिए। वही उदारता अपनाओ, तब कुछ होगा। जो संघर्ष किसी समय चल पड़ा था, उसे समाप्त समझना चाहिए। अब ब्राह्मण भी राज-काज में भाग लेने के लिए अँगरेजी पढ़ते हैं और उसी सभ्यता को अपनाते हैं। तब फर्क क्या रहा ? दूसरे लोगों को भी समझना चाहिए कि ब्राह्मण लोग प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए इस निषिद्ध मार्ग में नहीं आए हैं; उन्हें इस ओर आने के लिए परिस्थितियों ने विवश किया है।

हाँ, अंगरेजी राज्य आने पर ब्राह्मणत्व की वह धारा—वह सरस्वती—लुप्त हो गई। नाम भर बाकी है।

मृग-मरीचिका

जब ब्राह्मणों ने दूसरा मार्ग पकड़ा, तो मानसिक भाव भी बदले। जो त्याग और तपस्या से अपना उत्कर्ष समझते थे, वे 'पैसे' को ही सब कुछ समझने लगे। वस्तुतः यह पैसे का युग है। इसमें उस महत्त्वशाली वर्ग पर जादू फेंका। बिना पैसे के कोई किसी को पूछता जो नहीं !

परन्तु यहां मैं ब्राह्मणों को एक चेतावनी देना चाहता हूं। वे मृग-मरीचिका के पीछे न दौड़ें। वे जैसी परम्परा में आये हैं, कभी भी जयपुर, जोधपुर, ग्वालियर या बड़ोदा जैसे राज्यों के

राजा नहीं हो सकते। न वे बिड़ला डालमिया का मुकाबला व्यापार में कर सकते हैं, चाहे जितनी प्रतिभा हो। व्यापार में लगाने के लिए सम्पत्ति कहां से लाएँगे? फलतः अपने विशेष उत्पर्क के लिए त्याग और तपस्या की ओर देखना चाहिए—'जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पै आवै।' और कोई उपाय नहीं है। ब्राह्मण चाहे तो 'महर्षि मालवीय' बन सकता है, जिसके चरणों पर ग्वालियर-नरेश तथा बिड़ला लोटते हैं; परन्तु ग्वालियर-नरेश या बिड़ला बनना सम्भव नहीं। यह हमारी परम्परा का प्रभाव है। हमारे पुरखों ने हमें इसी योग्य बनाया है। हम इसी ओर चलकर उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। हां साधारण जीविका के लिए आप दूकान या खेती भले ही करें, करते ही हैं और करनी ही चाहिए। समय ही ऐसा है। परन्तु इसे उत्कर्ष का साधन समझने की गल्ती न करें। दूसरों के लिए वह सब उत्कर्ष का साधन है, तुम्हारे लिए नहीं। इस सम्बन्ध में हमें जो कुछ अधिक कहना है, आगे कहेंगे। यहां तो इतना प्रसंगवश ही कह दिया।

इस तरह हमने संक्षेप से एक धारा के दर्शन किए। इसका कैसे उद्गम हुआ, कैसे इसने राष्ट्र और समाज को जीवन दिया और किस तरह नाममात्र को रह गई, यह स्पष्ट हुआ।

दान-वृत्ति

दान वृत्ति के लिए ब्राह्मणों की विगर्हणा होती है। जिन्होंने सबको सब कुछ देकर अपना हाड़-मांस तक समाज-सेवा में गला दिया, जिन्हें परम्परागत गरीबी मिली, उनकी निन्दा होती है, दान लेने के कारण! इस प्रवाद की जितनी कुत्सा की जाय, थोड़ी है। ब्राह्मण ने कभी किसी से 'दान' लिया नहीं, सदा

सबको दिया है ! इसी का फल परम्परागत गरीबी है। इसीलिए मनु ने बड़ी कृतज्ञता के साथ स्पष्ट लिखा है—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥

अर्थात् राष्ट्र में जो कुछ भी सम्पदा-ऐश्वर्य या प्रभुत्व है, वह सब वस्तुतः ब्राह्मण का है। क्षत्रिय को राज्य और वैश्य को लक्ष्मीपतित्व उसी का दिया हुआ है। वस्तुतः वह (ब्राह्मण) अपनी बुद्धि, तपस्या तथा उदारता आदि की श्रेष्ठता के कारण तथा शानदार तेजस्वी परम्परा के कारण यह सब कुछ प्राप्त करने का अधिकारी है।

इसके अगले ही श्लोक में फिर उन्होंने स्पष्ट किया है—

स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ।

ब्राह्मण अपना खाता है, अपना पहनता है, अपना ही (दूसरों को) दान करता है। दूसरे लोग उसी की कृपा से सब उपभोग करते हैं।

वस्तुतः यह उस समय की वस्तुस्थिति का वर्णन है। जिन्हें हमारे पुरखों ने वह सब देकर इस लायक बनाया था, वे ही अब, इस पैसे के युग में, हमारी गरीबी पर हँसते हैं ! कृतज्ञता तो दूर, उलटे यह मनोवृत्ति ! हमारी बिल्ली हमसे ही म्याऊँ ! खैर, समय का फेर है। हमारे पुरखों ने उत्तराधिकार में हमें गरीबी दी, कुछ कमाकर न धर गए, न जमीन, न पूंजी ! फिर भी हमें सन्तोष है। गर्व है कि हम उस परम्परा के हैं। किसी तरह अपना काम चलाते हैं। परन्तु तो भी चैन नहीं ! सुनने को वह बोली ! वैसी ठठोली ! ब्राह्मण को 'मँगता कौम' तक कहने की

धृष्टता की जाती है ! हमें इस पर आज विचार करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि मांगना बहुत बुरा काम है। यदि किसी अंश में यह दुर्वृत्ति हो, तो अविलम्ब छोड़ने योग्य है। देखें, कहां यह है !

किसी भी शहर, कस्बे या गांव में आप देखें, अधिकांश ब्राह्मण समयानुसार खेती, नौकरी या दूकान आदि के द्वारा अपना काम चलाते नजर आएँगे। कहीं कोई 'मांगनेवाला' न दिखाई देगा।

तीर्थों में कुछ पंडे-पुरोहित रहते हैं। इन्हें लोग 'दान' लेनेवाले कहते हैं। परन्तु यह बात गलत है। तीर्थों के पंडे 'दान' नहीं लेते, कड़ा परिश्रम करके खाते हैं। उन्हें उनकी मेहनत के बदले जो स्वेच्छा से लोग देते हैं, उसे ही 'दान' समझा जाता है, जो गलत है। किसी भी तीर्थ के पंडे रात-बिरात, वर्षा और धूप में, कड़ाके की सर्दी में, घर से निकलकर रेलवे स्टेशन जाते हैं। वहां से यात्री को ले जाकर यथास्थान ठहराते हैं। उसकी सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध करते हैं। फिर उसे साथ ले जाकर सब दिखाते हैं, दर्शन और स्नानादि कराते हैं। यों यात्री को वह सब कुछ एकत्र मिल जाता है, जो उसे जरूरी है। होटल के आदमी ऐसा आराम नहीं दे सकते और कोई दूसरा 'गाइड' इस सतर्कता से सब दिखा नहीं सकता। फिर भी, पारिश्रमिक का कुछ ठहराव नहीं ! चलते समय यात्री ने जो कुछ दे दिया, ले लिया और उसे आशीर्वाद दिया। जिसने कुछ न दिया, न दो ! इसीलिए लोगों ने उसे 'दान' समझ लिया ! यदि ये पंडे अपनी निश्चित फ़ीस बांध दें और जबरदस्ती उसे वसूल करें, तब 'दान' न रहेगा ! कैसा बुद्धि-भ्रम है ! इनके पारिश्रमिक को 'दान' कहना गलती है।

कुछ ब्राह्मण पौरोहित्य करते हैं। उनके पारिश्रमिक को भी लोग 'दान' कहते हैं! यह भी बिडम्बना है। 'दान' तो वह है जो बिना कुछ किए घर में पहुँच जाय। निःसन्देह ऐसा 'दान' साधु-महन्तों को मिलता है, जिनमें नब्बे प्रतिशत से भी अधिक संख्या गैर-ब्राह्मणों की है। तब 'दान' कौन ग्रहण करता है? सोचकर देखने की बात है! ब्राह्मणों को 'दान' लेनेवाला कहकर चिढ़ाना एक अक्षम्य सामाजिक अपराध है और बड़ी भारी कृतघ्नता है। फिर भी, मैं ब्राह्मणों से निवेदन करूँगा कि यदि कहीं कोई ऐसी बात हो तो छोड़ देना चाहिए। 'दान' लेना हमारे लिए शोभा की चीज नहीं।

हमारा उत्कर्ष

यदि आप अपना उत्कर्ष चाहते हैं तो अपने रूप को पहचानना होगा, राष्ट्र के लिए त्याग और तपस्या को अपनाना होगा। क्षत्रिय अब भी अपने राज्यवैभव का प्रदर्शन कर सकते हैं। वैश्य अब भी करोड़ों की थैलियाँ उछाल सकते हैं। तुम्हारे पास क्या है? इन सांसारिक चीजों से तुम किसी का मुकाबला कर सकते हो? सबसे नीचे रहोगे। तुम्हारे गाँव के सेठजी ने जितना रुपया लड़की के विवाह में खर्च किया, उतना तुम भी करो, क्या यह सम्भव और ठीक है? हो सकता है? तुम इसके उलटे एक नारियल भेंट करके लड़की का विवाह करो, उसे सर्वथा योग्य बनाकर। उसे त्याग और तपस्या का उपदेश दो। इससे तुम्हारी शोभा होगी। दूसरों की नकल करने से काम न चलेगा। वह हमारी परम्परा के अनुकूल नहीं है। हाँ, त्याग और तपस्या में तुम उनसे आगे बढ़ सकते हो। बुद्धि तुम्हें अब भी प्राप्त है। इस गिरी दशा में भी प्रतिभा ने तुम्हारा साथ नहीं छोड़ा है।

उसके बल पर आगे बढ़ो, राष्ट्र तथा धर्म की सेवा करो। यदि ऐसा नहीं कर सकते, तो चुपचाप जीवन-निर्वाह करो। उत्कर्ष प्राप्त करके सबके सिरमौर बनने की कल्पना छोड़ दो। यह एक पुश्त में सम्भव नहीं कि तुम वैसे बन जाओ, धनकुवेर या कहीं के नरेश बन जाओ। कहीं कोई भाग्य से कुछ बन जाय, वह और बात है।

ब्राह्मण की अग्रगामिता

अच्छी तरह सब लोग जानते हैं कि ब्राह्मण जिधर भी जायगा, अग्रगामी रहेगा। समाज-सुधार की आजकल धूम है और वर्ण-व्यवस्था को तोड़ देना ही इसके लिए अमोघ औषध समझी गई है! जहाँ-तहाँ 'जात-पाँत तोड़क मण्डल' भी कायम हुए हैं। परन्तु यह कील इतनी मजबूत गड़ी है कि उखाड़े नहीं उखड़ती। इसके लिए लोग ब्राह्मणों को दोषी ठहराते हैं और मंच पर चढ़कर गालियाँ देते हैं। परन्तु आप देखें, दोष किसका है? ब्राह्मणों को वर्ण-व्यवस्था के कारण अब तक क्या लाभ हुआ है और आगे क्या होने की आशा है, सब जानते हैं! उलटे, कुछ ब्राह्मण तो अग्रगामी हुए हैं यद्यपि उनकी यह 'अग्रगामिता' हम लोगों को कतई पसन्द नहीं। छोटे-मोटे नहीं, चोटी के ब्राह्मणों ने अपनी लड़कियाँ वैश्यों को दे दीं। चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य ने अपनी लड़की महात्मा गांधी के लड़के श्री देवदास गांधी को ब्याह दी, जो दिल्ली के एक अखबार के डायरेक्टर हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी छोटी बहन एक दूसरे सेठ—श्रीहठी भाई—को ब्याह दी, जिनका नाम पहले कोई जानता ही न था। एक बंगाली ब्राह्मण कन्या से महात्मा गांधी के पौत्र श्री कनु गांधी

का विवाह हो गया। पं० जवाहरलाल नेहरू की लड़की (श्री इन्दिरा) का विवाह एक पारसी युवक से हुआ। यह सब इसलिए कि ब्राह्मण भीतर-बाहर एक होता है। जो कुछ कहता है, करता भी है। दूसरे लोगों में यह बात नहीं देखी गई। यदि महात्मा गांधी या श्रीहठी भाई के परिवार की कोई लड़की किसी दलितवर्गीय (हरिजन) युवक से ब्याही जाती, तो हम समझते कि ठीक है। परन्तु ऐसा कहीं देखने में नहीं आया। इससे तो मेरे जैसे छोटे लोगों को भ्रम होता है कि ब्राह्मण की जो प्रतिष्ठा समाज में उसके परम्परागत त्याग आदि के कारण है, उसे धक्का लगाने के उद्देश्य से ही यह एक संगठित षड्यन्त्र रचा गया है। निःसन्देह इससे हम लोगों को बहुत बुरा मालूम हुआ है। यही नहीं, अमर शहीद श्री स्वामी श्रद्धानन्द के सुयोग्य पुत्र श्रीइन्द्रजी का विवाह भी एक ब्राह्मण-कन्या से ही हुआ है। परन्तु किसी भी खत्री ने किसी चमार को अपनी लड़की देकर आदर्श उपस्थित नहीं किया। इसे हम ब्राह्मणों की अग्रगामिता कहें, या दूसरों की धोखेबाजी ?

हम वर्ण-व्यवस्था तोड़ देने से विचलित नहीं। समाज को इसकी जरूरत नहीं, तो आज तोड़ दे। टूट ही जायगी, यदि आवश्यकता नहीं। इसमें हम बाधक नहीं। इससे हमारा कोई भौतिक लाभ नहीं, सिवा हानि के। परन्तु हम अपने को 'ब्राह्मण' कहना न छोड़ेंगे और अपनी विशेषता की रक्षा करना भी चाहेंगे! यही तो हमारे गर्व तथा सन्तोष की चीज है। इधर देखने से हमारी गरीबी हमें खलती नहीं है। हम समझते हैं, हमारे पुरखों ने समाज-सेवा का फल गरीबी के रूप में हमें दिया है। यह हमारी बुद्धिहीनता या अकर्मण्यता का परिणाम नहीं है। परन्तु यदि हम अपने को 'ब्राह्मण' कहना छोड़ दें, तो फिर वह बात ही उड़ जाती

है ! तब हमारे उत्कर्ष का आधार क्या ?

झूठा उत्कर्ष ?

आप कहेंगे कि यह तुम्हारा झूठा उत्कर्ष है। जो वैसे त्यागी-तपस्वी विद्वान् थे, उनका वह सम्मान था। तुममें वह बात नहीं, तब तुम्हारा सम्मान किस लिए ?

ठीक है। हम मानते हैं। परन्तु सम्मान भी परम्परा से मिलता है। 'लार्डों' का खानदान चलता है। आपके पिता कर्मठ व्यापारी थे। उन्होंने करोड़ों रुपये कमाये। वह सब सम्पत्ति आपको मिली ; यद्यपि आप बिलकुल नालायक हैं और वह सब सम्पत्ति नष्ट किये देते हैं ! देश में सैकड़ों नरेश हैं, जिन्हें तलवार पकड़ने का भी शऊर नहीं, शत्रु से लड़ना तो दूर की बात है। उन्हें वह राज्य केवल इसलिए मिला है; क्योंकि वे उस परम्परा में हैं। सो सब ठीक ! परन्तु हमारे पिता ने जन्मभर समाज की सेवा की, हमारे लिए कुछ कमाकर न छोड़ गए ! हम गरीब हैं, बुद्धिहीन हैं, समाज की सेवा भी नहीं करते, फिर भी लोग हमें कुछ सम्मान देते हैं, केवल इसलिए कि हम उन त्यागी महापुरुषों की सन्तान हैं। तो, परम्परा के कारण, उत्तराधिकार में मिला हुआ हमारा यह सम्मान आपकी आंखों में खटकता क्यों है ? हम तो आपके अतुल ऐश्वर्य तथा राज्य-वैभव को देख कर जलते नहीं, उलटे प्रसन्न होते हैं, अपना ही समझकर—'ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि, अँखियन कौं सुख होत।' तब आप हमारी इस साधारण-सी चीज को क्यों नहीं देख सकते ? हमारे पुरखों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए कोई हमें नमस्कार कर लेता है, तो आपको बुरा क्यों लगता है ? हम तो आपके उस महान्

उत्तराधिकार को मानते हैं और आप हमारे इस ऊपरी सम्मान को भी नहीं देख सकते ! यह तो अपने आप उठा जा रहा है ! संसार की गति ऐसी ही है। तब आप हमें चिढ़ाकर क्या फल चाहते है ? यह क्या अच्छा है ? हम भी आपके ही हैं, आपके सदा काम आए हैं और आपके लिए ही हैं। हमारी विशेषता नष्ट न करोगे तो, कभी-न-कभी हम समाज की सेवा में उसी तरह काम आएँगे; क्योंकि तब हमें भान रहेगा—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते'

ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिए नहीं है, इसका महान् उद्देश्य है।

अब भी कुछ हैं

समय की गति से देश का ह्रास हुआ ! इस देश के अन्तिम सम्राट पृथ्वीराज ने अनेक बार विदेशी आक्रमणकारी को परास्त करने में देश के असंख्य योद्धा कटवा दिये और फिर बार-बार उसे 'माफ' कर देने की 'उदारता' प्रकट की ! यह 'उदारता' देश के लिए बहुत मँहगी पड़ी ! हम मुद्दत के लिए पराधीन हो गए ! हमारा सब कुछ नष्ट हो गया। हम सर्वथा हीन हो गए ! न राज्य रहा, न व्यापार रहा और न वैसी प्रज्ञा ही रह गई ! ब्राह्मण भी गिरे ! परन्तु इस गिरी दशा में भी अभी बहुत कुछ हैं ! राजनीति में लोकमान्य तिलक, कविता में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, संगीत को पुनरुजीवन देने में श्री विष्णु दिगम्बर, समाज-सुधार में स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि रत्न अपना अप्रतिम स्थान रखते हैं। आज भी देश के अधिकांश विश्वविद्यालयों का संचालन ब्राह्मणों के ही हाथों हो रहा है। ब्राह्मण ऐसे गिरे हुए इस समय भी नहीं हैं। परन्तु हमें अपनी

इस अवस्था से सन्तोष नहीं है। हाँ, दूसरे हँसें, यह ठीक नहीं। बस, इतना ही निवेदन करना था।"

मेरे इस निबन्ध ने काम किया और शान्ति हुई। परन्तु कुछ दिन बाद फिर वही हवा चली! लोगों ने समाज-सुधार के नाम पर दूसरों को बुरा-भला कहना एक फैशन बना रखा है! इस से क्या भला होगा?

'संस्कृति शब्द का गलत अर्थ में प्रयोग

कुछ दिनों से संस्कृति का प्रयोग एक बहुत गलत अर्थ में हो रहा है! जैसे 'देव' शब्द का प्रयोग 'राक्षस' के अर्थ में और 'हजरत' शब्द का प्रयोग 'चालाक' के अर्थ में किया जाता है। एक जगह भावना-विशेष काम करती है दूसरी जगह लक्षण। संस्कृति का अर्थ स्पष्ट है—संस्कारजन्य भावनाएँ और ततदनुकूल आचार-व्यवहार, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि। परन्तु नाचने-गाने वालों की मंडली को जब 'सांस्कृतिक शिष्ट मण्डल' कहा जाता है, तब क्या समझा जाए? 'संगीत-मण्डल' बना-बनाया शब्द है। यह और बात है कि प्रत्येक देश में—प्रत्येक जाति में—नृत्य-गायन आदि के स्वरूप में भेद है। इसे जाति भेद से, या संस्कृति-भेद से संगीत-विशेष ही तो कहेंगे? 'संगीत' ही संस्कृति कैसे हो जाए गी? हाँ, संस्कार का दूसरा अर्थ लेकर—परिष्कार का समकक्ष समझ कर—'संस्कृति' का तदर्थ प्रयोग किया जाए, तो बात दूसरी है। महर्षि मालवीय हमारे सांस्कृतिक नेता थे। राजर्षि टंडन तथा आचार्य बिनोबा भावे हमारे सांस्कृतिक नेता हैं। परन्तु सुप्रसिद्ध कलाकार श्री उदयशंकर जी को हम 'सांस्कृतिक' नेता कैसे कहेंगे?

पिछले दिनों की बात है, वर्धा में अ० भा० हिन्दी सम्मे-

लन था। राजर्षि टंडन, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन आदि बड़े-बड़े लोग पहुँचे थे। पं० रविशंकर शुक्ल ने उद्घाटन किया था और पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र अध्यक्ष थे। दो दिन का पूरा कार्य-क्रम समाप्त हो जाने पर पं० रामेश्वरदयाल दुबे ने एक सूचना उद्घोषित की—

"सम्मेलन का सब कार्य-क्रम पूरा हो चुका है; अब रात में केवल सांस्कृतिक कार्य-क्रम होना बाकी है।"

मैं समीप ही मंच पर बैठा था। जोर से मैंने कहा—

"क्या अभी तक का सम्पूर्ण कार्य-क्रम असांस्कृतिक था ?"

लोग हँस पड़े। दुबे जी ने कहा—'मेरा मतलब मनोरंजक कार्य-क्रम से है।'

अच्छा—तो फिर, मनोरंजक कार्य-क्रम' कहिए न ! अभी पिछले दिनों तक यही तो कहा जाता था। जब देश स्वतन्त्र हुआ और सांस्कृतिक चर्चा आगे बढ़ी, तो यार लोगों ने 'संस्कृति' शब्द का यों अर्थान्तर में प्रयोग करना शुरू किया। बात यों भी उड़ाई जाती है। यह भी एक तरीका है। परन्तु जो लोग समझ-बूझ कर शब्द-प्रयोग करते हैं, उन्हें तो सोचना ही होगा। वैसे आज कल शब्द-प्रयोग में जो लबड़-धोंधों चल रही है, सामने है ही ! 'सुरक्षा' को 'प्रतिरक्षा' कहा जा रहा है ! रक्षा के मुकाबले 'प्रतिरक्षा' ! 'आक्रमण' पर 'प्रत्याक्रमण' तो सुना था; अब किसी की अपनी 'रक्षा' से भी हमें मुकाबला करना होता है-'प्रतिरक्षा'। उपसर्गों से बहुत प्रेम है, तो 'परिरक्षा' कर लेते-'परितःरक्षा'। खैर, बात दूसरी है। नाचने-गाने को 'संस्कृति' कहना भी ऐसा ही समझिए।

अच्छी हिन्दी

जो लोग अच्छी बढ़िया टकसाली हिन्दी लिखने की इच्छा रखते हैं, उन्हें यह पुस्तक पढ़नी चाहिए—कई बार पढ़ कर अपने पास सुरक्षित रखनी चाहिए। व्याकरण, भाषाविज्ञान, हिन्दी की प्रकृति, साहित्य-धारा, शब्दशिल्प आदि का समन्वय यह पुस्तक है। मूल्य ढाई रुपए।

साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण

"यह पुस्तक ऐसी रोचक शैली और चुस्त भाषा में लिखी गई है कि पाठक इसे एक ही बैठक में समाप्त किए बिना नहीं रह सकता। उपन्यास से भी अधिक रोचक है। संक्षेप में हम इसे हिन्दी-जगत् के विगत चालीस वर्षों का सजीव विवरण कह सकते हैं। मूल्य भी १४४ पृष्ठों की–ऐंटिक पेपर पर मोनो टाइप में छपी—इस पुस्तक का दो रुपये मात्र है।"

—'प्रकाशन-समाचार' (दिल्ली)

"इन संस्मरणों में हिन्दी-साहित्य के लगभग चालीस वर्षों के इतिहास की एक झलक मिल जाती है। लेखन-शैली चटपटी है। कई स्थलों पर तो नाटकीय छटा छा गई है।"

—'अजन्ता' (हैदराबाद)

"हिन्दी-जगत् के निर्भय और स्पष्टवादी लेखक पं० किशोरीदास वाजपेयी ने मार्मिक अनुभव एवं हृदयस्पर्शी संस्मरण लिखे हैं। साहित्यिक अनुभव एवं संस्मरण-विषयक कुछ ऐसी भी पुस्तकें हिन्दी में निकली हैं, जिनमें लेखक ने अपने उपेक्षित जीवन के कटु अनुभवों का उल्लेख न करके केवल गौरवपूर्ण जीवन की गाथा का ही पुल बाँधा है। यह पुस्तक इसका अपवाद है।"—'आज' (काशी) मूल्य दो रुपए मात्र।